

पुस्तक-वार्ता

महात्मा अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा का प्रकाशन

संपादक
भारत भारद्वाज



Kku 'kkrfr eShh

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

पुस्तक-वार्ता

वर्ष 31 अप्रैल 2010

संपादक:

डॉ. अशोक कुमार, शाहदरा, दिल्ली-44001
दूरभाष नं 07152-232200, 230906
ईमेल: ashok@indiatimes.com

© सम्बन्धित लेखकों द्वारा

पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।
विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्रा दिल्ली।

प्रति सं. 20 रु.

द्वैवार्षिक 120 रु.

दिल्ली से बाहर के चेक के लिए वार्षिक 145 रु. और द्वैवार्षिक 265 रु.। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।
चेक/ड्रॉपट कृपया क्षेत्रीय विस्तार केंद्र (दूरस्थ शिक्षा), म.गां.अ.हि.वि., नई दिल्ली के नाम से भेजें।

संपादक:

डॉ. अशोक कुमार, शाहदरा, दिल्ली-44001
दूरभाष नं 07152-232200, 230906
ईमेल: ashok@indiatimes.com
ब्लॉक-सी/60, प्रथम तल, शिवालिक, मालवीय नगर, नई दिल्ली-110017
दूरभाष नं 011-26677365 E-mail : Pustakvarta@indiatimes.com
फोन नं.-09313034049 (लाइन पर)
E-mail : bhardwaj_bharat@yahoo.com

PUSTAK-VARTĀ

A Bi-monthly journal of Book Reviews in Hindi

Published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
Post-Manas Mandir, Gandhi Hills, Wardha-442001 (Maharashtra)

छपाई : रुचिका प्रिंटेर्स, 10295, लेन नं. 1, वेस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032

दूरभाष नं 011-26677365

अनुक्रम

संपादकीय	: नागार्जुन : इक जिंदा जालिम चंगा ए	4
पुस्तकें और मैं	: किताब कैमरा है कि आँख / शिवरतन थानवी	6
उपन्यास	: ठोस जीवनानुभवों की कथा : 17 रानडे रोड / हरजेंद्र चौधरी	10
	: 'संगे सबूर' में स्त्री-विमर्श के सूत्रा / सुभाष शर्मा	12
	: मैं हूँ अपने शिकस्त की आवाज़ / ज्ञानप्रकाश विवेक	15
	: हाशिए के समाजों की निरंतर संघर्षशीलता / शंभु गुप्त	17
कहानी	: जो हममें बचा रह जाएगा / वंदना मिश्रा	20
	: कटु और खुरदुरे जीवन की कठोर सच्चाइयां / अभिषेक दुबे	23
कविता	: कविताओं के विविध रंग / विवेक सत्यांशु	25
	: समय का सच / हितेश कुमार सिंह	26
	: नूरानी बाग में कविता के फूल / रूपलाल बेदिया	28
	: आवाज नहीं ध्वनियां / गीता शर्मा	29
	: आत्महत्या के पर्याय / उत्तिमा केशरी	31
आलोचना	: औपनिवेशिक प्रणाली के ध्वंस की कला / श्याम कश्यप	32
	: हिंदी आलोचना के आरंभ का पुनर्पाठ / प्रभाकर सिंह	36
जीवनी	: मधुमक्खी गंदे स्थानों पर नहीं बैठती / कांतिकुमार जैन	38
नाटक	: पक्ष-विपक्ष : युग बोध की अनुभूति / अजित पुष्कल	41
दलित-विमर्श	: एक गैर-दलित का दलित-विमर्श / श्रीभगवान सिंह	43
स्मरण	: डॉ. रामखेलावन पांडेय : 'काव्य और कल्पना' / विद्याभूषण	45
संस्मरण	: जुगनू के सहारे अतीत पर टिप्पणी / केवल गोस्वामी	47
पुरखों के कोठार से	: रवीन्द्रनाथ और महावीरप्रसाद द्विवेदी / भारत यायावर	49
समय-जुलाहा	: पहाड़ पर अलख...अर्थात् कुमाऊँ के लोककवि गिर्दा / कुबेर दत्त	52
हस्तक्षेप	: लोग ही चुनेंगे रंग / अनंत विजय	55

नागार्जुन : इक जिंदा जालिम चंगा ए

ब

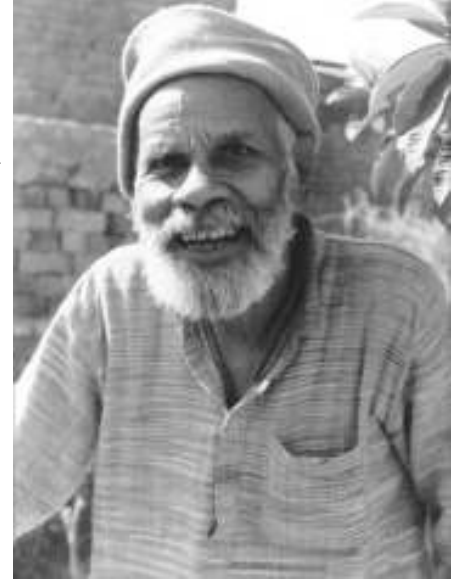
चपन में मेरी आँख एक साहित्यिक परिवार में खुली। सबसे बड़े अग्रज ब्रजकिशोर सिन्हा की अभिरुचि साहित्य में थी। दूसरे अग्रज नंदकिशोर नवल में उनसे भी ज्यादा साहित्य के प्रति अनुराग था। उनका गीत संग्रह 'मंजीर' (शीर्षक आचार्य शिवपूजन सहाय का दिया) चाणक्य चैत्य प्रकाशन, पटना से 1954 ई. में ही निकल चुका था। मेरे दोनों अग्रज निरंतर हिंदी साहित्यकारों

से पत्राचार करते थे जिनमें दिनकर, जानकीवल्लभ शास्त्री, कलक्टर सिंह केसरी, आरसी प्रसाद सिंह, माखनलाल चतुर्वेदी, रामगोपाल शर्मा रुद्र, ब्रजकिशोर नारायण और नागार्जुन के नाम मुझे याद हैं। घर पर मँगई जानेवाली पत्रिकाओं में प्रमुख थीं नया समाज, विशाल भारत, रानी, चिनगारी, कल्पना और आलोचना (आखिरी दोनों पत्रिकाएँ शायद हम उच्चविद्यालय, दयालपुर के पुस्तकालय से लेकर देखते थे)। मेरे लिए बालक, चुन्नु-मुन्नु, मनमोहन और चंदा मामा। लगभग यह पचास साल पहले की बात है। इसलिए, बहुत संभव है मेरी स्मृति गड़बड़ हो रही हो। लेकिन यह तथ्य नहीं, सच है। बचपन में ही पारिवारिक परिवेश के कारण मेरा साहित्यिक संस्कार हो गया। बिना किसी दीक्षांत समारोह के।

अब नागार्जुन प्रसंग। मेरा अनुमान है कि बाबा नागार्जुन ने अपने जीवन में किसी भी हिंदी लेखक की तुलना में सबसे ज्यादा पत्रा लिखे। और जिसे पत्रा लिखा वह उनके करीब होने का दावा कर सकता है। इसलिए भी कि नागार्जुन के पत्रा प्रायः प्रेमरस में पगे ही नहीं होते थे, संबोधित लेखक के पारिवारिक परिवेश में डूबे हुए भी लगते थे। इसलिए भी नागार्जुन पर आत्मीय दावा करनेवाले लेखकों की संख्या लगभग सौ के करीब होगी। नागार्जुन द्वारा लिखे पत्राओं की संख्या हजारों में होगी। उनके बेटे शोभाकांत मिश्र को संभवतः इसका अनुमान नहीं है। उनके द्वारा लिखे गए पत्रा इतने आत्मीय और स्नेहिल हुआ करते थे कि प्राप्तकर्ता को लगता था नागार्जुन सिर्फ उसके हैं। जबकि सच यह कि नागार्जुन सार्वजनिक होते हुए भी अंततः अपने थे। अनुमानतः नागार्जुन ने सबसे ज्यादा पत्रा मेरे अग्रज नंदकिशोर नवल को लिखे। जिनकी संख्या 152 है। बाबा का पहला पत्रा 20.4.55 का लिखा हुआ है और अंतिम पत्रा 2.4.1988 का जो उनकी पुस्तक 'मैं पढ़ा जा चुका पत्रा' (आधार प्रकाशन, पंचकूला) में संकलित हैं। और ये सारे पत्रा उनके द्वारा म.गं.अ.हिं.वि.वि., वर्धा के संग्रहालय को दिए जा चुके हैं। यानी पत्रा-संपर्क का घेरा लगभग 33 वर्षों का है। जिसमें एक बड़ा अंतराल भी है।

नागार्जुन के लेखन में मेरे अग्रज की रुचि निरंतर बढ़ रही थी। वे उनका लिखा सब कुछ पढ़ना चाहते थे। नागार्जुन ने 17.9.55 के पत्रा में तब तक प्रकाशित अपने उपन्यासों की सूची रतिनाथ की चाची, बलचनमा, नई पौध और बाबा बटेसरनाथ के साथ प्रकाशक का पता भी भेज दिया था। तत्काल उन्होंने उनके चारों उपन्यास मँगवा लिए थे। पहले तीन किताबमहल, इलाहाबाद और चौथा राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से। इन चारों उपन्यासों को सबसे पहले मेरे अग्रज ने पढ़ा और उसके बाद मेरे गाँव के देनी चाचा ने, जो उन दिनों यक्ष्मा से पीड़ित स्वास्थ्य लाभ कर रहे थे। इसलिए मेरी भी उत्सुकता हुई उनके उपन्यासों को पढ़ने की। क्रमशः मैं चारों उपन्यास पढ़ गया। तब मैं छठे क्लास का विद्यार्थी रहा होऊँगा। इनके उपन्यासों को पढ़ने के बाद मैंने प्रेमचंद का 'गोदान' और रेणु का 'मैला आंचल' पढ़ा सातवीं कक्षा में। तब मेरी बालबुद्धि में जितना अँट सकता था, मैंने समझा। लेकिन यह जरूर मुझे पता चला कि नागार्जुन के उपन्यास की जमीन उनके गांव-घर के गहरे अनुभवों से जुड़ी है। इस बीच मेरे सामने नागार्जुन का कवि का रूप भी उभरा। गांधी की शहादत पर कविता की उनकी एक बुकलेट निकली थी 'शपथ' और फिर 1955 में बी.एन. कॉलेज के गोलीकांड में शहीद दीनानाथ पांडेय पर भी लंबी कविता 'खून और शोले' लिखी थी। नागार्जुन के कथा संसार से गुजरते हुए अच्छा लगा था। खासकर उनका उपन्यास 'बलचनमा'।

मेरे लिए नागार्जुन-प्रसंग बड़ा है। पहली बार नागार्जुन के दर्शन मैंने अपने अग्रज के घर रानीघाट में किए थे। फिर बिहार में



13.10.82,
 डिप्ल मा-मा,
 'दंगल-गुल' नाली
 सहमी दुई मानसिकता
 का क्षणिक परिचय
 पानेकी नीयतसे ३५८
 अन्ना दुःख, अकलान्!
 W
 अन्नामा मे रायह मा-
 ह- VIA ३५८, ...
 W
 शेष, दुःख पत्रे
 — WVO ३५८

जयप्रकाश के नेतृत्व में संपूर्ण क्रांति का आंदोलन हुआ। और नागार्जुन की जेल यात्रा। मुझे अच्छी तरह याद है, जिस दिन बाबा नागार्जुन छपरा में लोक अदालत का उदघाटन करने जा रहे थे, मैंने उन्हें पूर्व सूचना दी थी कि बाबा आज आप गिरफ्तार कर लिए जाएंगे। वे प्रस्थान पूर्व मुस्कुरा कर रह गए थे। अपराहन में जब मैं दफ्तर पहुँचा टी.पी.एम. पर एक न्यूज एजेंसी की खबर अंग्रेजी में आ रही थी 'हिंदी पोएट नागार्जुन वाज एरेस्टेड इन छपरा टुडे आपटरनून ह्वाइल इनोगेरेटिंग लोक अदालत।' जेल में नागार्जुन ने एक कविता लिखी

इन सलाखों से टिका कर भाल,
 सोचता ही रहूँगा चिरकाल।

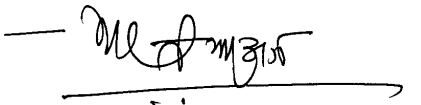
सितम्बर 1980 में बिहार से तबादले के बाद मैं कश्मीर के बारामूला जिले में प्रस्थापित हुआ। मेरे सुझाव पर युवा लेखिका क्षमा कौल ने बाबा नागार्जुन को हवाई यात्रा का टिकट भेजकर कश्मीर बुलाया था। मैं श्रीनगर जाकर बाबा को बारामूला लाया था। वे दो दिन मेरे अतिथि रहे। मेरे पड़ोसी झेलम को उन्होंने करीब से देखा और झेलम की ताजी मछली का आनंद लंच और डिनर में लिया। फिर श्रीनगर लौटने पर क्षमा कौल और बाबा के साथ हम निशात और शालीमार गार्डन देखने गए। और अंततः बाबा को श्रीनगर एयरपोर्ट पर विदा किया।

इस यात्रा में बाबा के शांतिनिकेतनी झोले में क्या-क्या न था, छोटा-सा ट्रांजिस्टर था। पत्रा-पत्रिकाएं और कविता की पुस्तकें थीं और लिफाफा-पोस्टकार्ड थे। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है राजेंद्र शर्मा का कविता संग्रह 'शेरों ने मुँह धोए' के साथ बांग्ला पत्रिका 'देश भी थी और अपनी तिब्बत यात्रा के जो विलक्षण अनुभव मुझे सुनाए उसे लिखने का यहाँ अवसर नहीं है। बाबा के लगभग 30-35 पत्रा मेरे पास हैं।

पु.वा. 29 (जुलाई-अगस्त 2010) के आवरण पृष्ठ पर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 150वीं जयंती पर रेखाचित्रा छपा था। भारत यायावर ने अपने एक पत्रा में मुझे लिखा है कि उनकी 150वीं वर्षगांठ पर कुछ सामग्री भी जानी चाहिए थी। उन्होंने अपने स्तम्भ 'पुरखों के कोठार से' में इस बार रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महावीरप्रसाद द्विवेदी पर एक बेहद रोचक और दिलचस्प टिप्पणी लिखी है, जिससे पता चलता है कि 1913 में उन्हें नोबेल पुरस्कार मिलने के पूर्व ही द्विवेदी जी ने उनकी प्रतिभा को पहचाना था।

आप यकीन रखिए, पुस्तक-वार्ता के दो वर्षों के अपने संपादन से मैं खुद असंतुष्ट हूँ। भविष्य में मेरी कोशिश रहेगी कि आपके लिए कुछ और महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करूँ।

इस बीच हिंदी के प्रसिद्ध साहित्यकार और पत्राकार कन्हैयालाल नंदन, कुमाऊँ के लोक कवि गिर्दा और कामरेड 'अभिव्यक्ति' के संपादक शिवराम सोहन शर्मा (मुंबई) के बिछुड़ने से हम हतप्रभ हैं। उनके प्रति हमारी हार्दिक श्रद्धांजलि।

— 

अनुरोध

कृपया अयाचित समीक्षा न भेजें। समीक्षा के लिए हम पुस्तकों का चुनाव स्वयं करते हैं। समीक्षा टाइप किया या स्पष्ट लिखावट में, पर्याप्त हाशिया छोड़कर, कागज के एक तरफ ही हो। समीक्षा के अंत में पुस्तक का शीर्षक, लेखक का नाम, प्रकाशक का पूरा पता तथा मूल्य का उल्लेख अवश्य करें ताकि हमें सुविधा हो।

□संपादक

पुस्तकें और मैं

किताब कैमरा है कि आँख में

शिवरतन थानवी

कि

ताब न शून्य में रहती है और न शून्य में जन्म लेती है। वह हर तरफ जीवन से जुड़ी रहती है। हर किताब हमारे जीवन को आगे-पीछे ले जाने में अत्यंत मूल्यवान भूमिका अदा करती है। छोटी हो या बड़ी, रद्दी हो या अच्छी, जो भी पुस्तक हम पढ़ते हैं वह कहीं-न-कहीं हमारे हृदय और मस्तिष्क को कुछ-न-कुछ तो हिलाती ही है। आगे बढ़ाए तो हमारा सौभाग्य, पीछे ले जाए तो हमारा दुर्भाग्य।

भाग्य पर विश्वास करना, या तटस्थ भाव से केवल चालू मुहावरे के रूप में ही कभी-कभी उसका प्रयोग कर देना, ये दो अलग बातें हैं। इनमें भेद करना भी किताब सिखाती है। इसे हम विवेक कहते हैं, ज्ञान कहते हैं, प्रगति और उपलब्धि कहते हैं।

शिक्षक और पुस्तक-प्रेमी पिता का पुत्रा मैं भी शिक्षक और पुस्तक-प्रेमी बना। जीवनभर अच्छा शिक्षक बनने की कोशिश की और शिक्षा व साहित्य संबंधी उत्तमोत्तम किताबों की खोज में लगा रहा, पढ़ता रहा। कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना, नाटक व बाल-साहित्य भी हिंदी-अंग्रेजी-बांग्ला व गुजराती के जो मिले सो पढ़े। विचलन यह हुआ कि विशेषज्ञता किसी में भी प्राप्त नहीं की। न शिक्षाविद् बना न साहित्यकार। कविता लिखी, कहानी लिखी, बाल-साहित्य लिखा व शैक्षिक लेखन भी किया और पत्रा-पत्रिकाओं में भी छपा, पर टिका नहीं किसी एक पर। चित्रकला, फोटोग्राफी, धर्म, दर्शन, विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्रा आदि कई विषय थोड़ा-थोड़ा पढ़े। शायद भीतर कहीं पत्राकार प्रबल था इस कारण। गंभीर, वैचारिक पत्राकार। अंततः पक्का पत्राकार बना। कच्चा तो 1951 से था, 'ज्वाला' साप्ताहिक में पार्टटाइम कार्य प्रारंभ किया तब से, पक्का बना 1965 में जब शिविरा पत्रिका

(मा.) की नींव डाली और नया शिक्षक (त्रौ.) का कार्याकल्प किया, सच्चे शिक्षा प्रेमी शिक्षा प्रशासक अनिल बोखदया की शक्ति और प्रेरणा से! तेरह वर्ष दो शैक्षिक पत्रिकाओं का पूर्णकालिक संपादन किया। और पढ़ता रहा। पढ़ रहा हूँ। पढ़ना ही मेरा जीवन है।

मेरे पास जीवन भी है और जीवन देने वाली किताबें भी हैं। और इन किताबों से जुड़ी कई कहानियां भी हैं। हर पाठक के पास कोई-न-कोई कहानी होती है। मेरे पास भी कई हैं। कुछ सुनाऊंगा। आप उकताएंगे नहीं क्योंकि आप भी पुस्तक-प्रेमी हैं, पाठक हैं, और इस नाते आपका-हमारा घनघोर तादात्म्य है। आपके पास भी किताबों की कई कहानियां होंगी, साम्य चाहे न हो, तादात्म्य तो होगा ही, है न?

कालक्रम की चिंता किए बिना पहली कहानी मैं लेता हूँ 54-55 की। जोधपुर में मैं पढ़ता भी था, पढ़ाता भी था, एक साप्ताहिक का संपादन भी करता था, एक गांधीवादी साहित्यिक संस्था का साहित्य मंत्री और फिर अध्यक्ष भी बना था तथा सामाजिक-राजनीतिक चेतना में रुचि के कारण कई साम्यवादी लेखकों-कवियों की संगत भी करता था। जोधपुर आए नंबूदरीपाद को भी सुना और उनकी बाद में साहित्य और कला संबंधी किताब भी पढ़ी जो मेरे निजी पुस्तकालय में सुरक्षित है। वेदों में साम्यवाद पर डांगे की किताब भी पढ़ी, खरीदी पर अभी नजर नहीं आ रही। अंग्रेजी-हिंदी लेखक-कवि प्राध्यापकों का पट्ट शिष्य बना। बी.ए. में हिंदी साहित्य और एम.ए. में अंग्रेजी साहित्य पढ़ा, प्रेमचंद और यशपाल को खूब गहराई से पढ़ा। यशपाल जोधपुर आए तो उनका साक्षात्कार और रांगेय राघव जयपुर आए तो उनका साक्षात्कार 'ज्वाला' साप्ताहिक में छापा। कोमल कोठारी, विजयदान देथा, मन्नु भंडारी, प्रयाग मेहता आदि के साथ



शिवरतन थानवी

प्रेमचंद के गहरे अध्ययन में जुटा और हम सबने मिलकर विजयदान देथा 'बिज्जी' के संपादन में साहित्यिक पत्रिका 'प्रेरणा' का 'प्रेमचंद के पात्रा' विशेषांक निकाला जो बाद में इसी नाम से अक्षर प्रकाशन से प्रकाशित हुआ और अभी हाल ही में 'बिज्जी' (विजयदान देथा) की लंबी भूमिका के साथ 'प्रेमचंद की बस्ती' नाम से पुनः प्रकाशित हुआ है। मेरा उसमें लेख है। 'लाला समरकांत' पर। 'बिज्जी' की 'बातां री फुलवारी' के 14 भाग हैं, कई भाग मैंने पढ़े हैं। हिंदी-राजस्थानी में उनके कई कहानी-संग्रह और उपन्यास पढ़े हैं।

यह तो हुई साहित्यिक पठन-लेखन की कहानी। लेकिन इसी क्रम की एक दूसरी कहानी ऐसी है जो मुझे इतना सुख और इतना दुख देती है कि वह भी एक मर्मांतक कहानी बन जाती है। मैंने यशपाल की सन् 54 तक प्रकाशित सभी पुस्तकें पढ़ डाली थीं। 'लोहे की दीवार के दोनों ओर', 'राह बीती' तथा 'देखा, सोचा और समझा' बहुत बार पढ़ी थी। उन दिनों तक पढ़े यशपाल के कथा-साहित्य

पर मैंने एक लंबा लेख लिख डाला। वह लेख 'नया पथ' में भेज दिया। सोचा था शिववर्मा प्रगतिशील लेखक-संपादक व पुराने क्रांतिकारी हैं, जरूर पसंद करेंगे। लेकिन उनके अपने हाथ से लिखे पत्रा के साथ लेख लौट आया। उन्होंने लिखा था कि लेख अच्छा है, थोड़ा और पुनर्लेखन हो जाए तो और अच्छा बन जाएगा। कितनी बारीकी से उन्होंने उसे पढ़ा था और कितनी सहृदयता से एक नए मामूली लेखक को पूरा सम्मान देते हुए कुछ सुझाव भी दिए थे। वह पत्रा आज सुरक्षित रहा होता तो कितना आनंद आता? पर हुआ सो हुआ।

पत्रा सुरक्षित न रहने का दुख तो हुआ ही, एक और महा कष्टकारक दुख हो गया। जोधपुर से एक अनियतकालीन पत्रिका निकलती थी 'विवेक'। इसके संपादक रामचंद्र बोड़ा एम.एन.राय के भक्त थे। जोधपुर के 'स्टेडियम' नाम के सिनेमाघर में बम विस्फोट कर जेल जा चुके थे, इस कारण स्वतंत्रता सेनानी थे। दार्शनिक दृष्टि से तर्क-वितर्क में निष्णात थे। वे लोहावट गांव आए, जहां मैं जोधपुर से ट्रांसफर होकर आया हुआ था। वे इन दिनों 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के संवाददाता थे। कैमरा लिए गांवों में निकल जाते थे, लोहावट भी आए। उनको मैंने लेख बताया, 'नया पथ' की बात भी बताई। वे बोले 'मैं छांपूंगा 'विवेक' में' और ले गए मेरा लेख। छप गया होता तो बात और होती। न वह लेख छपा, न मुझे वापस मिला और न मेरे पास उसकी प्रतिलिपि रही। हा हंत, मैं कंगाल हो गया। इन घावों को सहला रहा हूं आज आधी सदी से भी ऊपर बीत जाने के बाद भी। यह कहानी है यशपाल पर मेरी मेहनत की और मेहनत के परिणाम पर पानी फिर जाने की।

एक कहानी पुस्तक खोज की। जैसे 70-72 वर्ष से बिछुड़ी पुस्तक का अनुसंधान हो रहा हो। जयपुर गया था एक शादी समारोह में। समारोह में दिल्ली के प्रसिद्ध नाट्यकर्मी वागीशकुमार सिंह मिल गए अपनी पुत्री हरिप्रिया के साथ जिसे वे 'चियां' कहते हैं। दस बरस पहले 'चियां' को देखा तो मुझे मेरे बचपन की एक पुस्तक याद आई 'चियां मियां और हम साहब'। दूसरी यात्रा में मैं उस पुस्तक को ढूंढकर उसकी फोटोकॉपी कराके दिल्ली ले गया और भेंट कर आया 'चियां' बेटी को। जयपुर समारोह में पिछले माह 'चियां' बेटी मिली तो मुझे वह पुस्तक याद आई और इस बार 'चल मेरी ढोलकी ढमाक ढम' पुस्तक का उल्लेख कर मैं उन जैसी अन्य

कई बाल-पोथियों को पढ़ने (1936-37) के बाद जिस बड़ी पुस्तक को पढ़ने लगा था (1938-39) उस पुस्तक में पढ़ी एक रोचक छंद की एक-दो पंक्ति सुनाई 'धान धमाका धम्मक धूं' और गांव फलोदी लौटा तो पूरी चारों पंक्तियां मुझे याद आ गईं :

धान धमाका धम्मक धूं
छाज छपाटा छप्पट छूं
खाद खदब्द खदबद खूं
साड सडब्बड सडबड सूं

मैंने उन्हें तत्काल पत्रा लिखा, ये सभी पंक्तियां लिखीं और इन पंक्तियों के पीछे की पृष्ठभूमि देकर अर्थ भी लिख दिया। साथ ही मैंने यह भी लिख दिया कि पता करें यह कविता किस पुस्तक में रही होगी।

उनको लिख तो दिया किंतु मेरा मन 'खदबद' करता रहा कि मोटी-सी किताब थी, कई कहानियां थीं, यह शुरु में ही पहली या दूसरी कहानी थी, बाएं पेज पर ऊपर की तरफ कविता की तरह ही छपी थी, क्या नाम था? क्या नाम था? और मुझे नाम याद आ गया 'मनमोदक'। मैंने तीसरे ही दिन वागीश कुमार सिंह को लिख दिया 'यूके', मिल गया 'मिल गया, पुस्तक का नाम मिल गया 'मनमोदक'। ढूंढो-ढूंढो, जानता होगा कोई हरिकृष्ण देवसरे, कोई जयप्रकाश भारती आदि। खोज शुरु हो गई है, जारी है।

यह पढ़ी हुई पुस्तक तो 72 वर्ष बाद याद आई है और अब उसकी खोज प्रारंभ हुई है। एक पुस्तक है 'पिगमेलियन इन द क्लास रूम' जिसकी चर्चा, समीक्षा व प्रशंसा पढ़ी दुनिया की कई शिक्षा संबंधी पत्रिकाओं में, तो खोज की 'खदबद' मन में पच्चीस-तीस वर्ष चली। पुस्तक तो आज तक नहीं मिली पर उसकी 'भूमिका' लंदन की लाइब्रेरी से मुझे फोटोस्टेट प्राप्त हुई और मैं तृप्त हुआ।

इन दिनों एक पुस्तक को चार-पांच वर्ष की खोज के बाद मैंने पाया है। उसकी भी कहानी सुनाता हूं। कहानी छोटी है, पर बहुत रोचक है। अंतोनियो ग्राम्शी की एक पुस्तक है 'साहित्य, संस्कृति और विचारधारा' जिसका अनुवाद किया था रामनिहाल गुंजन ने और मैंने उसका आकर्षक उल्लेख किसी संदर्भ में कहीं पढ़ा था। भूल गया कि कहां पढ़ा था किंतु पुस्तक याद रही और उसे पढ़ने की इच्छा मन में पांव जमाकर बैठ गई। प्रकाशक (शारदा प्रकाशन, इलाहाबाद) याद रहा। इनको पत्रा लिखा। नहीं उत्तर आया तो दिल्ली के एक नामी प्रकाशक को लिखा जो किसी भी प्रकाशक

की पुस्तक का नाम दो, पुस्तकें सप्लाई कर दिया करता है। की थीं हमें पहले भी। परिचित भी था। नहीं कर सका। जयपुर के दो प्रकाशकों पुस्तक विक्रेताओं से कहा, बीकानेर के एक घनिष्ठ मित्रा प्रकाशक-पुस्तक विक्रेता से कहा, वे भी नहीं मंगा सके। संयोग से यह दर्द अपने पुराने सहपाठी और कवि-संपादक को जोधपुर लिख दिया। था तो पत्रा निहायत निजी, 'तू' करके लिखा हुआ लेकिन उसने प्रेम से उसे अपनी साहित्यिक पत्रिका 'प्रतिश्रुति' में छाप दिया। संयोग ऐसा बना कि वह पत्रा पढ़ लिया रामनिहाल गुंजन ने आरा (बिहार) में। इलाहाबाद, दिल्ली, जयपुर और बीकानेर के बाद जोधपुर लिखी मेरी एक पुस्तक के प्यास की यह व्यथा-कथा आरा (बिहार) पहुंच गई। 'गुंजन' जी का पत्रा आया कि वे ही उस पुस्तक के अनुवादक हैं और उनके पास बची इसकी एक अतिरिक्त प्रति अमुक मूल्य पर वे देने को तैयार हैं। उन्होंने मेरी अभिलाषा और अधीरता की तीव्रता भांप ली थी। मैंने अविलम्ब एम.ओ. कर दिया और 'प्रतिश्रुति' संपादक श्री मरुधर 'मृदुल' तथा पुस्तक अनुवादक श्री रामनिहाल 'गुंजन' के सदभाव व सद्प्रयत्नों से मुझे वह पुस्तक प्राप्त हो गई। प्रकाशन 1992 का है और पृष्ठ संख्या 106 है।

अब तो मेरे पास ग्राम्शी की एक नहीं दो किताबें हो गई हैं। एक तो 'गुंजन' जी का अनुवाद है ही, दूसरी पुस्तक मिल गई 'सांस्कृतिक और राजनैतिक चिंतन के बुनियादी सरोकार' जिसके अनुवादक हैं श्री कृष्णकांत मिश्र, प्रकाशक हैं ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली और हिंदी संस्करण का प्रकाशन वर्ष है 2002 तथा अंग्रेजी संस्करण का प्रकाशन था 1970 का।

किसी को गहराई से पढ़ने की इच्छा होती है तो खोज जारी रहती है। एक और पुस्तक मिली 'थिंकर्स ऑन एज्यूकेशन' यूनेस्को की। इसमें दुनिया के सौ श्रेष्ठ शिक्षाविदों के कार्य का विशद विवेचन है और उसके चार भाग हैं। चारों में ले आया। उसके दूसरे भाग में ग्राम्शी मिल गया। शिक्षा संबंधी उनके चिंतन पर विशेष बल देते हुए एक बहुत अच्छा अध्याय है। समझने का प्रयत्न जारी है। ये पुस्तकें मेरी मदद करेंगी।

स्कूल जाता तो स्कूल पुस्तकालय से पुस्तकें लेता। पिताजी वहीं शिक्षक थे सो पुस्तकालय प्रभारी शिक्षक ने मुझे कभी पुस्तक देने से मना नहीं किया। वहां पढ़ी पहली पुस्तक 'दूध बताशा' थी। बाकी कुछ नाम

हैं। 'शरारती सार्क', 'तीन टिकट महा विकट', 'चियां मियां और हम साहब', 'तीन भालू', 'चल मेरी ढोलकी ढमाक ढम'।

गिजु भाई को मैं शिक्षा के क्षेत्रा में सबसे ऊंचा उदाहरण मानता हूं। उन्हें पढ़ने की प्रेरणा मिली मुझे लोहावट में। लोहावट विद्यालय में एक मासिक पत्रिका आया करती थी 'शिक्षण पत्रिका', संपादक थे गिजुभाई बघेका। मूल संस्करण गुजराती था। हिंदी संस्करण का संपादन करते थे काशीनाथजी त्रिवेदी। यही काशीनाथ जी कालांतर में म.प्र. के शिक्षामंत्री भी रहे और जीवन के संस्थाकाल में कुंदनमलजी वैद (मॉटिसरी समिति अध्यक्ष) के निमंत्रण पर राजलदेसर आकर बैठे और रामनरेशजी सोनी के साथ कंधा से कंधा मिलाकर गिजुभाई की शिक्षा संबंधी तमाम 17 पुस्तकों का अनुवाद छपा डाला।

पांचवीं में मैं फलोदी आ गया। पांचवीं से सातवीं तक मैंने प्रेमचंद पढ़ा, बच्चन, मैथिलीशरण गुप्त आदि पढ़े, साथ ही 'बालक', 'बालसखा' और 'चुन्नू-मुन्नू' नाम की प्रसिद्ध बाल-पत्रिकाएं भी पढ़ीं। इस दौरान मैंने तीन तरह की पुस्तकें पढ़ीं दो तरह की गुपचुप गोपनीय तरीके से और एक तरह की खुल्लम-खुल्ला। मेरे हिंदी शिक्षक गहरे साहित्य-प्रेमी थे। वे क्लास में ही पूरी 'मधुशाला' गा-गा कर सुना दिया करते थे। कानपुर के थे। हम उन्हें पंडित जी कहते थे। बच्चन की तर्ज सरल थी। वे उसी तर्ज में सुना देते थे जिस तर्ज में बच्चन ने उसे गाया था या अमिताभ आज उसे सुनाते हैं। गुप्तजी की 'भारत-भारती' का कोई अंश रोज सुनाया करते। घर पढ़ने के लिए 'प्रेम पच्चीसी' आदि दिया करते। एक दिन उन्होंने विशेष

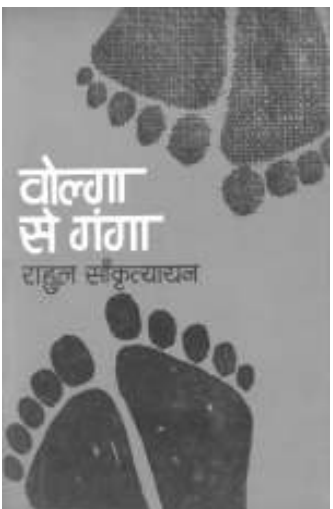
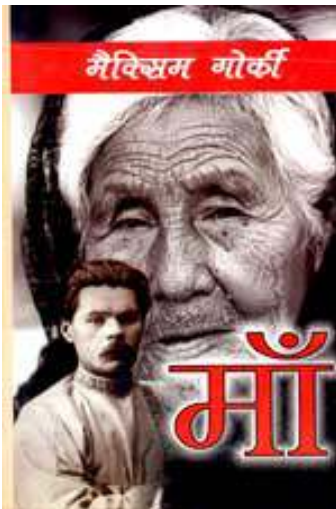
प्रशंसा कर 'रंगभूमि' उपन्यास का मोटा पोथा दे दिया। दे दिया तो मैंने पढ़ भी लिया।

दसवीं करते ही राहुल की छोटी-सी पुस्तिका पढ़ी 'तुम्हारी क्षय' और मेरा जीवन ही बदल गया। फिर तो ब्राह्मण की निशानी जो लंबी चोटी सिर में रहा करती थी वह बराबर हो गई, यज्ञोपवीत खूटी पर टंग गया और गीता-रामायण बार-बार पढ़ने की बजाय उन्हें एक ओर रखा और यशपाल, जूलियस फूचिक, कुशन चंदर, मैक्सिम गोर्की पढ़ने लगा। यह भीषण परिवर्तन आया राहुल की एक पुस्तक से। 'वोल्गा से गंगा', 'दर्शन दिग्दर्शन', 'भागो नहीं दुनिया को बदलो' आदि भी पढ़े। प्रेमचंद, गांधी और गिजुभाई को तो पहले से ही पढ़ता आ रहा था, ये तो मुझे घुट्टी में मिल चुके थे, अब और नई खिड़कियां खुल गईं। राहुल के 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' और गोर्की की 'मां' से जीवन में एक नया मोड़ आ गया। मार्क्स-एंगेल्स तो पढ़े ही, हावर्ड फास्ट, रैल्फ फॉक्स और क्रिस्टोफर कॉडवेल भी पढ़ा। कबीर और तुलसी भी पढ़ा। जब के.जी. सैयदीन की 'एजूकेशनल फिलॉसफी ऑफ इकबाल' पढ़ी तो डॉ. शंभूलाल शर्मा की 'तुलसी का शिक्षा-दर्शन', भी पढ़ा। तुलसी पर माताप्रसाद और वारान्निकोव आदि कइयों को पढ़ा, कबीर पर हजारी प्रसाद द्विवेदी, शुकदेवसिंह व धर्मवीर के विविध विचारों को पढ़ा तो आजकल पुरुषोत्तम अग्रवाल के लंबे अनुसंधान की उपज उनकी कबीर पर आई नई किताब को पढ़ने का मन बना रहा हूं, विष्णु चंद्र शर्मा की 'कबीर की डायरी' पढ़ रहा हूं तथा पिछले दिनों उनसे जो बात हुई डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी की डी.डी. भारती पर, उसके प्रकाश में कई देशज व अनजाने शब्दों पर विचार करता जा रहा हूं

जैसे 'पतुरिया' शब्द का प्रयोग और पृष्ठभूमि कबीर की रचनाओं में और ठेठ बनारस की गलियों में।

पुस्तक-प्रेम अंकुरित होने में कई मुकाम आते हैं। हर मुकाम पर रुचियां नई बनती हैं या पिछली जो थीं वे फिर से सुदृढ़ होती हैं। एक नया आत्मविश्वास जागृत होता है और भाषा पर पकड़ भी मजबूत होती है। शब्दों के पीछे छिपे आशय-अभिप्राय भी अपने कई-कई रंगों के साथ स्पष्ट होने लगते हैं। पढ़ते-पढ़ते एक और काम भी साथ-साथ होता चलता है कि हमारे आचार-विचार भी आगे बढ़ते चलते हैं। दृष्टि में परिवर्तन होता है, दिशाएं भी बदल जाती हैं। कभी-कभी तो एकदम उल्टी घूम जाती हैं।

मुल्कराज आनंद के सभी कहानी संग्रह और उपन्यास पढ़ डाले। आर.के.नारायण की भी कहानियां व उपन्यास पढ़े। 'मालगुडी', टी. वी.धारावाहिक तथा 'गाइड' फिल्म से पुरानी यादें ताजश हुईं। जब से रामविलासजी व वात्स्यायनजी को पढ़ा तब से मैं बहुत परेशान रहने लगा। मुझे दोनों प्रिय थे। प्रगतिवादी दृष्टि से रामविलासजी का भक्त था और सृजनात्मकता, विवेकपूर्ण चिंतन व अभिव्यक्ति के नित नए आयाम कविता, कहानी, उपन्यास, यात्रा व निबंध, सब कुछ नित नए सार्थक मौलिक प्रयोग को देख-देख अज्ञेय प्रिय लगते थे। खूब पढ़ा दोनों को। प्रकाशचंद्र गुप्त तथा शिवदान सिंह चौहान को भी पढ़ा। जैनंद्र लुभाते थे, कभी-कभी आकखषत भी करते थे। ऊंचाई थी विचार और भाषा की। दार्शनिक अंदाज उनके प्रति सम्मान जगाता था। देवेंद्र सत्यार्थी को तो मैं पढ़कर झूम गया। 'बाजत आवे ढोल' पढ़कर मेरे अंग-अंग में ढोल बजा



करते थे। 'आजकल' और 'विश्वदर्शन' का मैं पाठक था और सत्यार्थीजी का प्रेमी-प्रशंसक। लोकगीतों में रुचि उनके कारण ही पैदा हुई।

रसूल हमजातोव की पुस्तक **'मेरा दागिस्तान'** कई बार खरीदी और हर बार जो मांग कर ले गया वह वापस नहीं लाया। अब बाहर झाड़ंगरूम की पुस्तकों में उसे नहीं रखता। अज्ञेय की पुस्तकें भी मैं गोदरेज में रखता हूँ। और भी कई हैं जो भीतरी प्रकोष्ठ में हैं, प्राणों से प्यारी हैं जैसे तसलीमा नसरीन की 'औरत के हक में'। फ़ैज़, निर्मल वर्मा, केदारनाथ अग्रवाल, दुष्यंत, मुक्तिबोध, केदारनाथ सिंह, त्रिलोचन, नागार्जुन, मंगलेश डबराल और पाश आदि कई हैं जिनकी पुस्तकें भीतर जाती हैं तो कभी बाहर आ जाती हैं।

एक पुस्तक की जब से चर्चा पढ़ी है तब से उस पुस्तक 'समरहिल : फॉर एंड अगेंस्ट' को पढ़ने की उत्कट इच्छा मन में है। नहीं मिली, नहीं पढ़ी। हर पुस्तक शिक्षा और साहित्य की जो मुझे आकषण करती है पढ़ लेना चाहता हूँ। लिखता कम हूँ, पढ़ता ज्यादा हूँ। पढ़ने की हसरत बनी रहती है। ऐसी कि हर हसरत पर दम निकले। बहुत पढ़ा। बहुत निकले मेरे अरमान फिर भी कम निकले। पी. सी. जोशी के गहरे अनुभव व विश्लेषण-विवेचन वाले लेख 'तद्भव' में खूब पढ़ता रहता हूँ। उनकी इन निबंधों की पुस्तक भी आ गई है। जरूर पढ़ूँगा।

शुद्ध शिक्षा पर भारत में गिजुभाई ने कभी बहुत लिखा था, पश्चिम में रूसो, पेस्तोलजी, कमनियस, जॉन ड्यूई, मारिया मॉटिसरी आदि ने नाम कमाया। अब जॉन होल्ड सबसे अधिक पढ़े जा रहे हैं। 'हाऊ चिल्ड्रन फेल' शिक्षा में इनका आधुनिक क्लैसिक है। हिंदी में इसका अनुवाद अरविंद गुप्ता ने किया है जो 'एकलव्य' में उपलब्ध है। नाम है 'बच्चे असफल कैसे होते हैं'। जोनाथन कोजोल, नॉर्मन फ्रीडमन, रॉबर्ट हचिंग, हेनरी स्टील कमेजर ने भी नए विचार दिए। शिक्षा पर भारत में कृष्ण कुमार अपने अलग ढंग के मौलिक चिंतक हैं। हिंदी में कृष्ण कुमार की शिक्षा पर 'राज, समाज और शिक्षा', 'विचार का डर', 'शिक्षा और ज्ञान' आदि सबसे अधिक चर्चित किताबें हैं। इनकी कुछ किताबें अंग्रेजी में भी हैं। प्रेरक हैं, विचारोत्तेजक हैं। दयालचंद्र सोनी ने कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण किताबें लिखी हैं। रोहित धनकर की 'शिक्षा और समाज' तथा राजाराम भादू की 'डैविड आर्सबरो और नीलवाल स्कूल' भी नए विचार

और नए प्रयोगों के लिए बहुत काम की है। रमेश दवे और रमेश थानवी ने भी शिक्षा, परीक्षा व नवचिंतन पर काफी गहरे विचार किया है।

ये सब लेखक शिक्षा में प्रतिपक्ष को भी देखते हैं। किंतु धूम-धड़ाके से बुलंद आवाज में वर्तमान शिक्षा-नीतियों पर हमला करने वाला तथा साथ ही रचनात्मक दृष्टि से 'होशंगाबाद विज्ञान' जैसा धरती से जुड़ा गांवों के बच्चों के लिए गांवों में उपलब्ध साधनों के माध्यम से ही विज्ञान-शिक्षण का विशाल पैमाने पर प्रयोग कर एक नया आदर्श उपस्थित करने वाला प्रखर प्रबुद्ध लेखक कोई है तो अनिल सद्गोपाल है। माता-पिता या शिक्षक या कोई भी शिक्षा-प्रेमी, जो शिक्षा के मौलिक विकास में रुचि रखता हो उसे गिजुभाई के बाद इन्हें जरूर पढ़ना चाहिए। 'शिक्षा के बदलाव का अधिकार' (ग्रंथशिल्पी) इनकी प्रसिद्ध पुस्तक है।

नंदकिशोर आचार्य हैं तो कवि, आलोचक और गांधीवादी चिंतक परंतु शिक्षा में भी अच्छी रुचि रखते हैं। कविता-संग्रहों व आलोचना ग्रंथों के साथ शिक्षा पर भी इनकी 'आधुनिक विचार और शिक्षा' आदि कई पुस्तकें हैं। अभी मैं इनकी लेखक की साहित्यिकी (वाणी) और 'शिक्षा का सत्याग्रह' (वाग्देवी) पढ़ रहा हूँ।

शिक्षा और साहित्य की कई पुस्तकें हैं जो पढ़ी हैं और पढ़ता रहता हूँ। अधिक नाम गिनाने से क्या लाभ? अमेरिकी राजनीति में प्रमुख प्रतिरोधी प्रबुद्ध स्वर नोम चाम्स्की को भी और अंतरिक्ष विज्ञान में कुलाचें भरने वाले महाअपंग वैज्ञानिक स्टीफन हॉकिंग को थोड़ा पढ़ने-समझने की चेष्टा की है। कला और संगीत में भी रुचि रही है। मुल्कराज आनंद की मार्ग (अंग्रेजी पत्रिका, भव्य कागज-मुद्रण व भव्य सामग्री की) के कई अंक मंगाए, पढ़े थे 60-62 में। और मुल्कराज की सौंदर्य-बोध व कला की सृजनात्मकता समझने वाली एक पुस्तक खरीदी थी, पढ़ी थी। हर्बर्ट रीड का क्लासिक ग्रंथ भी थोड़ा पढ़ा, 'डिक्शनरी ऑफ आर्ट' भी खरीदी और देश के प्रसिद्ध चित्रकारों पर नंदलाल बोस से सूजा तक जो मिला पढ़ा। एम.एफ.हुसेन तो निकट संबंधी जैसे लगते हैं। उनकी खूब चित्रकारी देखी और उनकी आत्मकथा भी पढ़ी।

संगीत पर दो किताबें मुझे सबसे अच्छी लगीं। दोनों की लेखिका हैं, श्रीमती शीला धर। किताबें हैं 'द कुकिंग ऑफ म्यूजिक' तथा 'हेयर इज समवन आइ वुड लाइक यू टु

मीट' (परमानेंट ब्लैक, वितरक ऑरियंट लॉंगमेन)। संगीत में रुचि वालों को ये मिल जाएं तो इनमें उन्हें संगीत संसार के अभूतपूर्व दृश्य देखने को मिलेंगे, अद्भुत अनुभव और आनंद देंगी ये पुस्तकें।

बांग्ला कविताएं शक्ति चट्टोपाध्याय, शंघ घोष, रवीन्द्रनाथ टैगोर, नजरुल इस्लाम और सुनील गंगोपाध्याय की मुझे बहुत प्रिय हैं। गुजराती कवि सुरेश दलाल की कविताएं और जोसेफ मकवान का उपन्यास 'आंगलियात' मैं बार-बार पढ़ना चाहता हूँ। 'काखड्योग्राम' (ललित निबंध) के रचयिता गुजराती के प्रसिद्ध स्तंभ लेखक और 'पंचशील आंदोलन' के प्रवर्तक, शिक्षक और शिक्षाविद्, गुणवंत शाह आजकल एक खास दल के समर्थन में उतर जाने के कारण काफी विवाद में हैं, किंतु उनके कई गुजराती ग्रंथों में से गीता पर एक ग्रंथ 'कृष्ण नुं जीवन संगीत' मुझे बहुत अच्छा लगा, संभाल कर रखा है।

पुस्तकों की दुनिया कितनी आनंददायक और कितनी ज्ञानवर्धक है यह पढ़ने वाला ही जानता है। पुस्तकें पढ़ते हैं तो हमें दृष्टि मिलती है। पुस्तकों में वह सब कुछ है जो समय में है, समाज में है, परंपरा में है और परिवेश में है। साहित्य को इसीलिए समाज का दर्पण कहा है। असल में साहित्य की भूमिका दर्पण से भी बहुत आगे है। नए मुहावरे में कहें तो कैमरे से भी बहुत आगे है। इसीलिए हमारे मन में यह प्रश्न उठा कि किताब कैमरा है कि आँख? कैमरा उसे ही देखता है जो सामने है, जबकि आँख जो सामने है उसे तो सभी आयामों में देखती ही है, वह उसके भीतर भी देखती है और उसके आगे 'उस पार' भी देखती है। किताब की आँख से हम 'क्रांतदर्शी' बनते हैं। 'उस पार' को देखने वाले हम पुस्तक पढ़ें तो हम जहाँ होते हैं निश्चित ही इससे आगे जाते हैं। समझता वही है जो समझने के प्रति जागरूक रहता है। जागरूकता भी पुस्तक ही लाती है, ध्यान दें तो।

जिसका ध्यान लगता है गीत-संगीत-काव्य-कला-साहित्य में उसको रस आने लगता है। उसकी शिक्षा होने लगती है। जब शिक्षा होती है तो रस की पहचान बनती है। रस की पहचान हमें ज्ञान-विज्ञान की ओर ले जाती है, पारंगत बनाती है। यही पुस्तक-प्रेम की अनिर्वचनीय सुंदर परिणति है।

मोची स्ट्रीट, फलोदी, जोधपुर-342301 (राजस्थान)

ठोस जीवनानुभवों की कथा : 17 रानडे रोड

हरजेंद्र चौधरी

हि

दी के वरिष्ठ कथाकार **रवीन्द्र कालिया** का सद्यः प्रकाशित उपन्यास **'17 रानडे रोड'** उनकी (खुदा सही सलामत है' और 'ए बी सी डी' के बाद) तीसरी औपन्यासिक

कृति है। यह कृति हमें मुंबई महानगर की उस पुरानी दुनिया के विकट अनुभव-क्षेत्रों में ले जाती है, जो आंशिक रूप से आज विद्यमान नहीं है और आंशिक रूप से पहले से भी कहीं अधिक बीहड़ रूप ले चुकी है। हम सातवें दशक के मुंबई महानगर के रू-ब-रू होते हैं। यह उन दिनों का उपन्यास है "जब सोना सौ रुपये तोला था और मुंबई, बंबई के नाम से जाना जाता था। कुछ लोग इसे बांबे भी कहते थे। टैक्सियों का न्यूनतम भड़ा साठ पैसे हुआ करता था।" (पृ. 19) सातवें दशक की शुरुआत की मुंबई को दृश्याकार रूप में 'प्रोजेक्ट' करने वाला यह उपन्यास दिलचस्प और पठनीय तो है ही; इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि संवेदनशील पाठक के मन पर यह अपना बहुत गहरा, सकारात्मक प्रभाव छोड़ता है, गंदली दिशाओं की ओर उमड़ती सैलाबी धारा के विरुद्ध नाव खेने का हौसला और विश्वास प्रदान करता है।

अनेक उप-शीर्षकों में बंटे इस उपन्यास का नायक ओबी संपूरन ओबेराय एक ऐसा अद्भुत पात्र है, जो अपनी शर्तों पर जिंदा जीने में माहिर है। भूत-प्रेतों, तांत्रिकों, भविष्यवक्ताओं, फिल्मी नायिकाओं और डायरेक्टरों आदि से निरंतर उसका साबका पड़ता है, पर वह किसी से भी दबता-डरता नहीं है। उसके हाथ में भौतिक संसाधन ज़्यादा नहीं है, पर वह शाही ढंग से जीवन-यापन करता है। उसकी जिंदागी में उतार-चढ़ावों की भरमार है। चांदनी और ज्वार-भाटा उसे अवसाद ग्रस्त नहीं बनाते क्योंकि वह निर्भय रहकर उनसे आनंद प्राप्त

करने की कला में पारंगत है।

वह आज इस दुनिया में नहीं है। उसके न रहने की खबर से सुदर्शन पुरुषार्थी, जो सातवें दशक में मुंबई में ओबी का 'पेइंग गेस्ट' था, के भीतर स्मृतियों का महासागर उमड़ आता है। उपन्यास 'पलैश बैक' में चलता है, पर अतीत-वर्तमान की विभाजक-रेखा बार-बार अपना रंग-रूप खो बैठती है। पलैश-बैक वाला 'वर्तमान-अतीत-वर्तमान' का 'वृत्त' भी यहां पूरा नहीं होता, उपन्यास अतीत में ही समाप्त हो जाता है। यह पलैश-बैक टेकनीक की 'नवीनता' है या उपन्यास के अंतिम प्रारूप में छूट जाने वाली कमी, ऐसे प्रश्नों का जवाब ढूँढने की ज़रूरत पाठक को महसूस नहीं होती। यह उपन्यास उसे पूरी तरह अपनी गिरफ्त में ले लेता है।

'17 रानडे रोड' के भूत-बंगले में रहनेवाला नायक संपूरन ओबेराय आज हमारे बीच नहीं है, लेकिन वह पाठकों की दुनिया में, उनके हृदय में बहुत सहज रूप से शेष है। उसे



निर्वाण और अमरता का संयुक्त वरदान मिला है। रवीन्द्र कालिया की रचनात्मक कलम से रचा गया यह अद्भुत पात्रा पाठकों के हृदय में सहज रूप से चला तो आता है लेकिन उसी सहजता से लौट नहीं जाता। वह हृदय में डेरा जमा लेने वाला बहुत प्यारा पात्रा है। जीवन के प्रति लापरवाह-सी गंभीरता से भरा हुआ। हताशापूर्ण स्थितियों में भी आशाओं से लबालब। बुरे हालात से पहाड़-कें-पहाड़ उस पर टूटते-लुढ़कते हैं, पर वे उसे कुचल-मसल नहीं पाते। बल्कि वह उन्हें हथेली पर उठाकर उड़ने लगता है। वह किसी भी प्रकार की सीमाओं को स्वीकार नहीं करता। उसका अकूत आत्मविश्वास उसे निस्सीम बनाए रखता है। उसके लिए अपने-पराये का भेद बेमानी है। उसके दोस्त या परिचित होकर आप खतरे में भी पड़ सकते हैं और निश्चिंत भी रह सकते हैं। खाली हाथ होने की स्थिति में वह आपकी जेबें टटोल सकता है और आपके 'ना, ना' करते भी आपके लगभग सारे नोट अपनी मुट्ठी में दबाकर चलता बन सकता है। पर दूसरी ओर आपको किसी संकट से उबारने के लिए, आपकी ज़रूरतें पूरी करने के लिए किसी भी पल आपकी जिंदागी में पुनः प्रवेश कर सकता है और आपकी जेब से लिए नोटों को सवा-डेढ़ या दो गुने करके आपको लौटाने आ सकता है। वह भुक्खड़ नहीं, फक्कड़ है। संग्रह-प्रवृत्ति से पूरी तरह मुक्त। उसकी झोली, जेबें, यहां तक कि मुट्ठी भी हमेशा देने की तरह खुली रहती है। अपने इस गुण या अवगुण के प्रति वह चौकन्ना या गखवत नहीं रहता, क्योंकि यह उसकी नैसखगक प्रवृत्ति है। सारे उसी जैसे हों तो दुनिया कितनी सुखी हो जाएगी!

इस नायक का चरित्रा बहुत आक्रामक ढंग से संक्रामक है। उसके फक्कड़पन के जीवाणु पाठक के हृदय-मस्तिष्क को अपने गिरफ्त में ले लेते हैं। पाठक को भी पैसा 'हाथ का मैल' लगने लगता है। सिकुड़ते जा रहे

मानवीय संबंध और सामाजिकता के तत्त्व उसके मन व जीवन में पैसे के मुकाबले 'बहुत बहुत जिप्ष्यादा' 'स्पेस' घेरे लगते हैं। पाठक संत होने लगता है। बिल्कुल ओबी (संपूरन ओबेराय) की तरह एकदम फक्कड़ संत, जिसे अपने-पराये के भेद कत्तई रास नहीं आते। वह अनुभव करता है, बल्कि जान लेता है कि पैसा केवल माध्यम है, मकषसद नहीं। ओबी कलियुग में जन्मा 'सतयुगी' पात्रा है। '17 रानडे रोड' को पढ़ते हुए मुझे अलग-अलग कारणों से 'द फाउंटेनहैड', 'मेयर ऑफ़ केस्टरब्रिज' जैसे उपन्यास और हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के कथा-पात्रा याद आते रहे...

रानडे रोड पर, समुद्र किनारे, बनी सत्राह नंबर कोठी में रहते हुए उस कोठी के भूत उसका कोई नुकसान नहीं करते, पर अनेक जीते-जागते धनलोभी प्रेत जफ़ूर, बार-बार, बाधाओं के अंवार लगा देते हैं। फ़िल्मी दुनिया और दूरदर्शन आदि की दुनिया के धनलोभी प्रेत उसे परेशान करते हैं। रानडे रोड के इस भूतबंगले के भूतों के साथ उसकी पटरी सहज रूप से बैठ जाती है, पर जीते जागते धनलोभी प्रेत बार-बार उसकी जीवन-रेल को पटरी से परे धकेलने में लगे दिखते हैं। कला-जगत, रेडियो, टेलीविजन और फिल्मों की दुनिया का बहुगंगी चेहरा काला-सफ़ेद ही नहीं नीला-पीला-लाल भी है। उदासी, सैक्स, हिंसा, निराशा, उत्तेजना, उल्लास के सब रंग हैं यहां। नायक अनेकों को अपने रंग में रंग लेता है, पर संवेदनाशून्य धनलोभी प्रेत उसकी 'लाली' से घबराकर दूर भाग जाते हैं। नायक ओबी एक किष्म की गैर-धाख्रमक आध्यात्मिकता के रंग में रंगा हुआ कबीर-स्वभाव वाला पात्रा है।

इस उपन्यास की भाषा में ताजगी, चुस्ती और संप्रेषणीयता की त्रिावेणी प्रवहमान है। घटना-क्रम व परिवेश आदि के विवरणों से लेकर संवादों तक की भाषा में यह त्रिागुणी प्रवाह नज्फ़ आता है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं, "शराब पर पाबंदी। हर चौराहे पर शराब!... दपशतर के सहकखमयों के अलावा एक ईरानी, एक पानवाला एक किरानी मेरा नाम जानते हैं।...हम भूखे रह लेंगे, मगर समुद्र से बहुत दूर मकान नहीं लेंगे।...मुझे दिल्ली बहुत ठिगनी और बौनी लगी। कनॉट प्लेस की ऊँचाई कितनी कम है, यह आप बंबई रहकर ही जान सकते हैं।...कल इतवार है और मैं हूँ। जैसे दोनों आमने-सामने खड़े हैं। देखें कौन जीतता है। इतवार ही जीतेगा, मैं हार जाऊंगा। हमेशा की तरह...यह शहर मेरा नहीं

है या मैं इस शहर का नहीं हूँ या यह शहर किसी का नहीं है।...वर्षों के जद्दोजहद के बाद सुदर्शन ने बंबई के गजप्ल संसार में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। इस संघर्ष में उसने अपनी प्रेमिका को खो दिया यानी मां-बाप की पसंद से शादी करने की अनुमति दे दी। आज उसके पास सब कुछ है, अक्षेरी में फ़्लैट, ज़ाइवर, गाड़ी, बीवी, प्रेमिका, बेटा, शोहरत।... सफलता ने उसे यूरोप तक पहुंचा दिया और एक दिन वह वहीं का होकर रह गया। अब वह ब्रिटेन का नागरिक था और कभी-कभी भारत लौटता था।" (पृ. 45-46-47-48)

इन उद्धरणों में मनुष्य के भीतर और बाहर की दुनिया को साधारण, चिरपरिचित शब्दों के रचनात्मक इस्तेमाल ने कितनी कुशलता से उभारा है। (शब्दों के अपव्यय से बचने की यह कला हिंदी के अधिक-से-अधिक लेखक सीख सकें तो कितना अच्छा हो!) इस उपन्यास में ऐसे 'उदाहरण' भरे पड़े हैं। लेखक ने अनेक स्थानों पर 'पॉपुलर' शब्दों, वाक्यांशों का भी इस्तेमाल किया है। खास तौर से उपन्यास के अनेक उपशीर्षक हिंदी-उर्दू के पॉपुलर 'फ़्रेजबें' से बुने गए हैं। कुछ में फिल्मी गानों की प्रतिध्वनि सुनी जा सकती है। जो 'जफ़ा कह दो सांवरिया से, आया करे, बमघम से आया मेरा दोस्त', 'यह जिप्दगी कितनी हसीन थी', 'हमने तो जब कलियां मांगी', 'आप मुंह में जुबान रखती होंगी' जैसे उपशीर्षक में हमें 'सुनाई' पड़ते हैं। अनेक उपशीर्षक साहित्यिक-दार्शनिक-पारंपरिक-रहस्यात्मक प्रवृत्तियों वाले भी हैं 'सच्चा-झूठ, झूठा सच', 'यह शहर किसका है?' 'मत्स्य गंधा', 'रंग रोगन होना भूतों के डेरे का' तथा 'क्रैश करना पंखे का विमान की तरह' जैसे शीर्षक उपर्युक्त उपवर्गों में श्रेणित किए जा सकते हैं।

पूरे उपन्यास में 'मस्ती' भी बिखरी पड़ी है। अवसादजनक स्थितियों का विवरण भी यहां उम्मीद का पल्ला नहीं छोड़ता, न ही पाठकों को 'डिप्रेस' करता है। जफ़ा देखें, "वाहे गुरु दा खालसा, वाहे गुरु दी फतेह! अपना काम ईमानदारी से करते जाओ बस। एक न एक दिन कामयाबी आपके कदम चूमेगी। न भी चूमे तो साला क्या हो जाएगा! होशियार आदमी कभी भूखों नहीं मरता। मैं दुनिया में ही नहीं, बंबई भी खाली हाथ आया था।" (पृ. 210)

सफलता या असफलता की एक-एकाघ घटना को पूरे जीवन का गुणनफल मानने की बेवकूफी करने वाले लोग ही अवसादग्रस्त होते हैं। उतार-चढ़ावों को जीवन का हिस्सा

मानने वाले मस्त लोग मस्त ही रहते हैं। 'भीगी बिल्ली की तरह सोया समुद्र' हो या पूखणमा की रात चीते-सा झपटता समुद्र हो; दोनों का अपना सौंदर्य है। इस सौंदर्य को पहचानने वाली नज्फ़ और इसे 'एप्रिशिएट' करने वाला मन चाहिए! अपना टी.वी. सीरियल पास होने के बाद उसका आदेश जारी होने से ही आलू के थोक-व्यापारी द्वारा कोर्ट से स्टे ऑर्डर ले आने जैसी निराशापूर्ण स्थितियों में भी संपूरन पराजित अनुभव नहीं करता, "जब बंबई आया तो जफ़े में सिर्फ़ बीस रुपये थे। आज मेरे पास तू है, दपशतर है, दपशतर में मारिया है, समुद्र किनारे बंगला है, चाहे भूतबंगला ही क्यों न हो! मेरे सिर पर छत है। कर्जभी ज्यादा नहीं है, जबकि तुम जानती हो, ये कंधे लाखों का कर्ज उताने की कुव्वत रखते हैं।" (पृष्ठ 303) "वह विश्वास से ओतप्रोत था। सुप्रिया उसे कौतुक, प्यार और प्रशंसा से निहार रही थी।" अथक-अखंड आशावाद पात्रों के भीतर और उपन्यास की भाषा के भीतर मौजूद है।

उपन्यास में एक सीधा सपाट कथा-मार्ग नहीं अपनाया गया है। यह बहुधारा-सम्पन्न नदी की तरह है, जिसमें जिप्दगी अपनी दिशा-गति ख्युद चुनती दिखती है। लेखक ने इस मामले में कुछ खास दखल नहीं दिया है। अनेक कथाधारारएं मुख्य कथा में मिलती दिखती हैं तो अनेक उससे अलग छिटककर लुप्त भी हो जाती हैं। यह ठोस जीवन-अनुभवों की कथा है, जिसे रवीन्द्र कालिया ने लिखा है। इसमें कहीं-कहीं जिप्दगी जैसी अव्यवस्था भी है, जिसे देखकर लगता है कि लेखक ने इसे नहीं लिखा, बल्कि जीवन-अनुभवों के रचनात्मक दबावों ने लेखक से अपनी कथा लिखवा ली है। वेन्यू मुंबई और उसके आसपास की कुछ जगहों के अलावा अमृतसर भी है। पर पंजाब और पंजाबियत इस उपन्यास के प्रमुख वेन्यू बंबई महानगर में निरंतर अपनी उपस्थिति बनाए रखते हैं।

हिंदी भाषा को 'गशरीब' मानने वालों और हिंदी कथा-साहित्य में कथा-रस की कमी की शिकायत करने वालों को तो, '17 रानडे रोड' जफ़ूर ही पढ़ना चाहिए।

17 रानडे रोड / रवीन्द्र कालिया / भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, मूल्य : 300.00 रुपये

ई-1 / 32, सेक्टर-7, रोहिणी, नई दिल्ली-110085

‘संगे सबूर’ में स्त्री-विमर्श के सूत्रा

सुभाष शर्मा

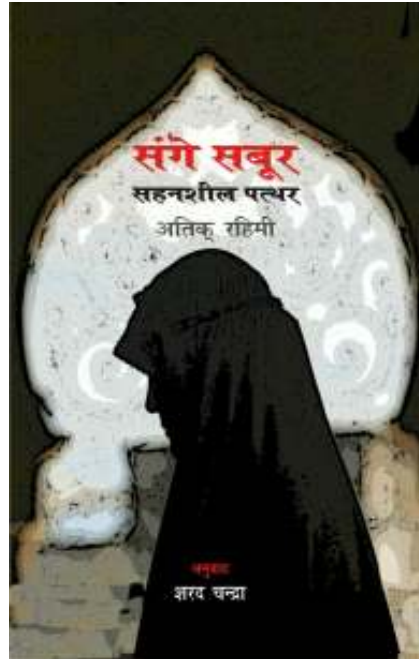
‘सं

गे सबूर’ शीर्षक के पीछे एक मिथक है। संगे सबूर एक जादुई काला पत्थर होता है जो मनुष्य के दुखों को सुनता है, अपने भीतर समा लेता है

और जब भर जाता है, तो फट जाता है तथा अपने भीतर जमा सारे दुखों को वापस दुनिया के ऊपर पलट देता है तथा यह दुनिया का अंत होता है (पलैप)। अफगानी मूल के उपन्यासकार अतिक रहिमी ने फ्रांसीसी भाषा में मूल उपन्यास लिखा था जिसका हिंदी अनुवाद शरद चंद्रा ने किया है। उपन्यास का उप-शीर्षक है : ‘सहनशील पत्थर’। उपन्यास की शुरुआत यूं होती है : “एक छोटा कमरा। आयताकार। चमकदार, निंबुई रंग की साफ-सुथरी दीवारों के बावजूद घुटन भरा, अंदर दो परदे टंगे हुए जिन पर नीले सुनहरे आसमान में उड़ती हुई मौसमी चिड़ियां चित्रा में जकड़ी हुई।” (पृ. 9) इससे ध्वनित होता है कि घुटन भरा माहौल है और चिड़ियां जकड़ी हुई हैं। ये चिड़ियां महिलाओं की प्रतीक हैं और घुटन भरा छोटा-सा कमरा अफगानिस्तान का प्रतिनिधित्व करता है। आगे का वर्णन स्थिति को ज्यादा साफ करता है : ‘खंजर के ऊपर का तस्वीर, मूंछों वाले आदमी की...यह आदमी मुस्कुरा नहीं रहा लेकिन चेहरे पर ऐसा भाव जैसे उसने अपनी हंसी रोक रखी हो।’ यानी रोबीला आदमी हंसना नहीं चाहता जैसे तानाशाह हिटलर नहीं हंसता था। जिस आदमी की उक्त फोटो दीवार पर टंगी है, वह जमीन पर बिछे गद्दे पर लिटाया गया है। उसका चेहरा कमजोरी से पीला पड़ गया है, उसकी नजर छत पर गड़ी हुई है और उसे कैथेटर से कोई रंगीन दवा चढ़ाई जा रही है। उसे एक औरत संभाल

रही थी और दूसरे हाथ से माला जप रही थी। पास में ‘कुरान’ रखी हुई थी। उसकी दो बेटियां रो रही हैं, सो वह औरत उठकर उन्हें चुप कराती है। वह बेहोश पुरुष की आंखों में दवा डालती है। अचानक शहर में बम फटने की आवाज़ सुनाई देती है। जवाब में हमला होता है। उससे खिड़कियों के शीशे चूर-चूर हो गए। वह औरत बार-बार कहती है ‘अल कहर’ और माला जपती जाती है। उसने निन्धानवे मनकों के साथ निन्धानवे बार कहा ‘अल कहर’।

वह औरत बार-बार बेहोश पति से कहती थी कि वह उसकी बातें सुनकर कुछ संकेत दे मगर कोई हरकत नहीं होती थी। सोलह दिनों तक बेहोशी की ऐसी स्थिति के कारण औरत ने कहा ‘सुबह से शाम तक लगातार भगवान का नाम दोहराते रहना, अब और नहीं कर सकती मैं!’ (पृ. 14) पुरुष



की ओर से कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। फिर भी वह और बड़बड़ाती रहती है ‘तुमने मेरी गैरहाजिरी में तैंतीस बार सॉस ली, मेरे लिए एक दिन का अर्थ है माला के निन्धानवे फेरे, माला के पांच फेरों के बाद मुल्ला दोपहर की नमाज के लिए अजान देगा और हदीस पर उपदेश देगा; मैं जी रही हूं तुम्हारी सांसों के साथ; वह बेवकूफ मुल्ला यह नहीं जानता कि उस आदमी के पास अकेले बैठना क्या होता है; दो बेटियों के सिवाय मेरा है ही कौन क्योंकि तुम्हारे भाइयों और मेरी बहनों ने मुझे छोड़ दिया है; तुम जानते हो कि तुम्हारी एक बीवी है और दो बेटियां हैं; क्या तुमने एक बार भी हमारे बारे में सोचा जब उस मनहूस कलशनिकोव को कंधे पर रखा? अब मैं थक गई हूं; मुझे यूं अकेले मत छोड़ो।’ यह कहकर उसने पुरुष की बांह को चूमा और झुककर माफी मांगी। फिर उसने कुरान खोलकर खुदा से वादा किया कि अपने पति को लड़ाई पर कभी नहीं जाने देगी। वह रोज अपने पति की चादरें बदलती, उसके शरीर को कपड़े से पोंछती, दवा देती और उसके ठीक होने की दुआ करती।

एक दिन वह बेहोश पड़े पति से कहने लगी ‘तुम्हें गोली लगी है, लेकिन तुम दर्द, तकलीफ सबसे आजाद हो, ‘सास दर्द सहना मेरी किस्मत में लिखा है’ (पृ. 25) उपन्यास में उस औरत का विरोधाभासी चरित्रा बार-बार उभरता है। एक ओर वह कुरान पढ़ने और माला जपने का नित्यकर्म करती है, दूसरी ओर वह पूजा पर शक करती है ‘अब मुझमें रब का नाम लेने तक का दम नहीं रहा’, ‘अल्लाह तेरी रहमत...वह तुम्हें बचाएगा। बिना मेरे। बिना मेरी पूजा-उपासना के...’ (पृ. 27)। फिर दूसरे मौके पर वह अपने

बेहोश पति के समक्ष कबूल करती है : “जब हम पहली बार साथ सोए—शादी के तीन साल बाद...मैं उस रात महीने से थी... मैंने तुम्हें कुछ बताया नहीं। और तुमने सोचा कि...वह खून मेरे कौमार्य—भंग होने का सूचक है...खून देखकर तुम आनंद और गुमान से भर गए थे...सामान्यतः मुझे माहवारी नहीं आनी चाहिए थी। तब! वक्त नहीं हुआ था, लेकिन मेरे पीरियड एक हफ्ते पहले ही शुरू हो गए, चिंता और तुमसे मिलने के डर से, मजबूरन। आखिर सोचो, सगाई के बाद तकरीबन एक साल निकल जाना, फिर शादी के तीन साल बाद, वह भी नामौजूद आदमी के साथ, यह कोई बात हुई। मैं तुम्हारे नाम के साथ जीती रही। उससे पहले मैंने तुम्हें देखा तक नहीं था, सुना नहीं था, छुआ नहीं था। मुझे दहशत हो गई थी सबसे—तुमसे, बिस्तर से, खून से।” (पृ. 31—32)। इस कबूलने में कई चीजें साफ झलकती हैं : पहली स्त्री के कौमार्य को अफगानिस्तान में विशेष महत्त्व दिया जाता है जैसा कि अधिकतर एशियाई देशों में है। दूसरी, शादी बिना देखे—सुने—छुए हो जाती है। भारत के पारंपरिक विवाह में वर—वधू शादी के दिन एक—दूसरे को अवश्य देखते और छूते हैं। अफगानिस्तान में शादी के लिए मौजूद होना भी जरूरी नहीं। तीसरी, शुचिता की दहशत इतनी ज्यादा होती है कि लड़कियां निर्धारित समय से पहले माहवारी से पीड़ित हो जाती हैं अर्थात् सामाजिक नियम जैविक नियम पर भारी पड़ते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि लिंग (सेक्स) जैविक होता है जबकि लिंगभाव (जेंडर) एक सामाजिक निरूपण है। पितृसत्ता के कारण स्त्री दोगम दर्जे की नागरिक बना दी जाती है। चौथी, खास बात यह है कि भारत में जैसे पहले ‘गौना’ या ‘द्विरागमन’ पद्धति थी (यानी शादी के एक, तीन या पांच वर्ष बाद वधू की विदाई), वैसे ही अफगानिस्तान में अभी भी है जिसके कारण तथाकथित शादी के तीन साल बाद वर—वधू सुगाहरात मनाते हैं।

फिर वह औरत कुछ जरूरी सवाल उठाती है : मर्दा में अहंकार का अहसास खून से इतना क्यों जुड़ा है? माहवारी के खून को नापाक क्यों समझा जाता है जबकि वह सृजन (सृष्टि) से जुड़ा है। और फिर जुनून

में वह अपनी उंगलियां अपनी जांघों के बीच बार—बार घुसाती रही मानो छुरा भोंक रही हो। यह पितृसत्ता को एक प्रकार की चुनौती थी। मगर यह चुनौती क्रूरता में बदल गई जब उसने अपनी उंगलियां बेहोश पुरुष की दाढ़ी में पोंछ लीं। तभी बाहर बमबारी हो रही थी जिसकी प्रतिक्रिया में कुछ लोग रो—चिल्ला रहे थे, तो दूसरे धड़ाधड़ गोलियां चला रहे थे। थकावट और गुस्से के कारण उसके मुंह से निकला “अच्छा हो कि कोई निशाने से चूकी गोली तुम्हें हमेशा के लिए खत्म कर दे!” (पृ. 38)

थोड़ी देर में जब वह नीचे सोने चली गई, तो तीन आतंकी आए और उस बेहोश आदमी को गालियां देने लगे, पर्दे फाड़ दिए, शीशे तोड़ दिए और उस आदमी की नाक में लगी नली को हटा दिया। मगर उसमें कोई हरकत नहीं हुई। उन्होंने उसे मारा—पीटा और वे उसकी घड़ी तथा सोने की अंगूठी ले लिए। एक ने वहां रखी चोली को हवा में लहराते हुए कहा कि इसकी बीवी भी है। दूसरे ने टिप्पणी की कि उसकी छातियां बहुत छोटी होंगी। एक ने कहा कि शायद वह आदमी हमारे गुट का है। दूसरे ने कुरान देखी, तो वह साष्टांग प्रणाम करने लगा और उसे अहसास हुआ कि बेहोश आदमी अच्छा मुसलमान है! यहां दहशतगर्दी और धर्म का अजीबोगरीब रिश्ता है। उनके चले जाने के बाद वह औरत उस कमरे में आई और सामानों को बेतरतीब देखा तो वह अपनी पड़ोसन पगली बुढ़िया से पूछने लगी। उसने कहा “राजा आया था। वह मुझसे मिलने आया था...उसने मुझे प्यार किया। तुम्हारे पास कुछ ब्रेड है मेरी बेटी! मैंने सारी ब्रेड राजा को दे दी...वह बहुत भूखा था।” इससे यह ध्वनि होता है कि राजा और दहशतगर्द एक हैं, कि राजा भूखा है और जनता की रोटी खा जाता है!

बाद में वह औरत झुंझलाती है कि उसके पति के भाइयों ने उसे अपनी बीवी नहीं बनाया क्योंकि वह बेहोश आदमी जिंदा था : “शायद तुम्हारा मर जाना उनके लिए बेहतर होता। तब वे मुझे चूम सकते थे बिना अंतरात्मा में विरोध महसूस किए...तुम्हारे भाई हमेशा से मुझे चूमना चाहते थे। वे सारे वक्त मुझे बेइज्जत करते रहते थे...तुम्हारी नामौजूदगी के तीन सालों में लगातार...जब मैं नहा रही

होती, वे हमाम की छोटी—सी खिड़की से मुझे देखते रहते और खुद को मलकर हाथ से मैथुन करते। रात को भी मुझे घेरकर तंग करते।” (पृ. 50) उसके मुंह से इतना सब एक सांस में निकल गया। फिर वह अफसोस करने लगी कि क्या—क्या कह गई। उसने अल्लाह को याद किया और बेहोश पति से प्यार जताने लगी। मगर तभी पुरानी यादें कुरेदने लगीं “तुमने कभी मेरी बात सुनी ही नहीं, कभी कोई बात मानी ही नहीं...हमारी शादी को दस साल से ज्यादा हो गए लेकिन हमारे साथ रहे केवल दो या तीन साल!...मुझे तुम्हारी मां के साथ सोना पड़ता था जो मुझ पर या मेरे सतीत्व पर कड़ी निगाह रखती थी।...रात को मैं तुम्हारी मां के साथ सोती थी और दिन में तुम्हारे पिताजी के साथ बात करती रहती थी ...तुम्हारे पिता मुझे कविताएं पढ़कर सुनाते थे, कहानियां सुनाते थे। मुझे पढ़ना सिखाते थे, लिखना सिखाते थे, सोचना सिखाते थे। वे मुझे प्यार करते थे इसलिए कि उन्हें तुमसे प्यार था। उन्हें तुम पर बहुत गर्व था कि तुम आजादी के लिए लड़ रहे हो।...आजादी के बाद से उन्हें तुमसे और तुम्हारे भाइयों से नफरत होने लगी क्योंकि तुम लोग सिर्फ सत्ता हथियाने के लिए लड़े।” (पृ. 51—53) इससे जाहिर होता है कि समकालीन अफगानिस्तान का यह यथार्थवादी चित्रण है जहां आजादी के नाम पर जेहाद है और तालिबानों की क्रूर सत्ता है। फिर दूसरी ओर उस औरत की भड़ास भी है जो एक घायल तालिबानी की पत्नी होने के कारण दूसरे से विवाह नहीं कर सकती और न दूसरे पुरुष उससे विवाह करना चाहते हैं यद्यपि वे उसका यौन शोषण करना चाहते हैं। इतना ही नहीं, वह यह भी सवाल पूरी शिद्दत से उठाती है कि जब पुरुषों के हाथ में हथियार होता है, तो वे औरतों को भूल जाते हैं। फिर वह कहने लगी कि छः माह साथ रहने पर भी जब वह गर्भवती नहीं हुई, तो उसकी सास और पति उसे बांझ होने का ताना देने लगे। पति ने भी कभी पत्नी को मौका नहीं दिया चूमने का। वह हिंदी फिल्मों की नायिकाओं की तरह उसे चूमना चाहती थी मगर वह परे कर देता था। सो अब वह आरोप लगाती है कि उसका पति उससे डरता था। लेकिन अब वह कहती है “तुम ही मेरे संगे सबूर हो!” (पृ. 69)

एक दिन कुछ तालिबान उसके घर आ गए। उनके पूछने पर कि वह क्या काम करती है और कौन है, उस औरत ने बताया कि वह मुसलमान है और अपनी देह बेचती है। सो वे उसे गालियां और सराप देने लगे कि वह जहन्नुम में जाएगी। गुस्से में वे बाहर निकल गए। तब औरत ने बेहोश पति से कहा : “मुझे माफ करना! मुझे कहना पड़ा वो सब, नहीं तो वे मेरे साथ बलात्कार करते। इन जैसे आदमियों के लिए एक वेश्या को चूमना, उसके साथ संभोग करना कोई शेखी बघारने लायक काम नहीं हुआ करता। उसी योनि में अपनी गंदगी डालना, जिसका आनंद उनसे पहले न जाने कितनों ने लिया हो, उनकी मर्दानी शान के खिलाफ होता है।” (पृ. 75-76) फिर वह सवाल करती है कि किसी लड़की का सतीत्व लूटना कितनी बड़ी फतह होती है मर्दों के लिए। दूसरी ओर वेश्या के साथ बलात्कार नहीं होता, सिर्फ लेन-देन होता है। वह यहां तक कहती है कि भीतर दबी इन बातों को कहने का मौका पति ने कभी नहीं दिया। उस औरत की फूफी बांझ करार दी गई थी और उसका ससुर उससे प्यार करने लगा, सो फूफी ने एक दिन उसकी खोपड़ी फोड़ दी। अंततः उसे घर से निकाल दिया गया और ससुरालवालों ने यह अफवाह उड़ा दी कि उसने आत्महत्या कर ली जबकि वह कहीं गायब हो गई। मगर एक दिन उसने बाजार में एक कपड़े की दुकान पर अपनी फूफी को देखा और उसका पीछा करते-करते उसके घर गई।

फिर वह बताने लगी कि उसके मां-बाप के सिर्फ सात लड़कियां थीं जिसके कारण वे दुखी थे। उधर जब गोली बारी बंद हुई, तो वह किशोर बंदूक के साथ उसके पास आया और पैसे देकर यौन सुख प्राप्त करना चाहा। पहले उस औरत ने मना किया कि वह एक मां है मगर वह उतावला किशोर बंदूक का घोड़ा दबाने वाला था, सो मजबूरन वह निर्वस्त्रा हो गई और किशोर पिल पड़ा। औरत ने उसकी अकुशलता के कारण उसे सहलाते हुए मां की तरह पूछा कि क्या यह पहला प्रयास है? लड़के के कबूल किया। लड़के ने बताया कि उसका परिवार नहीं है और साफा से आधा मुंह ढककर वह तेजी से बाहर निकल गया। यद्यपि उस औरत ने नोट उठा लिए, उसे गिने और किशोर को ‘बेचारा’ कहती हुई वह अपने

बेहोश पति की आंखों से आंखें नहीं मिला पाई। फिर वह कहती है अपने पति की ओर मुखातिब होकर “तुम भी इस लड़के की तरह बिल्कुल अनाड़ी थे...साल खत्म होते-होते मैं जान गई कि उस अतृप्ति का कारण तुम खुद थे...फूफी का यह कहना गलत नहीं था कि जो प्यार करना नहीं जानते, वे लड़ाई में चले जाते हैं।” (पृ. 94)

दूसरी ओर बाहर का नजारा कुछ और था : “कुछ देर गोलियां चलीं। कुछ देर नमाज पढ़ी गई। कुछ देर सब कुछ चुप रहा।” (पृ. 96) इस प्रकार उपन्यासकार दिखाता है कि घर के भीतर एक युवा स्त्री प्रेम की अतृप्ति से जल रही है जबकि बाहर या तो गोलीबारी हो रही है या धाखमक कर्मकांड हो रहे हैं। कभी-कभी सन्नाटा छाया रहता है मगर न भीतर शांति है और न बाहर। वह बेहोश पति को उलाहना देती है कि पुरुष अपनी मर्दानगी अपने लिंग से मापते हैं, कि किशोर हमारी इज्जत मिट्टी में मिला गया, कि तुम्हारी इज्जत ने तुम्हारी आत्मा को गिरने दिया; कि “तुम्हारी इज्जत मांस के एक लोथड़े से ज्यादा कुछ नहीं है...वास्तव में तुम्हारे लिए मैं मांस के उस टुकड़े से ज्यादा कुछ नहीं थी...सिर्फ उसे फाड़ देने के लिए! उसमें से खून बहाने के लिए।” (पृ. 104) फिर अगला सवाल करती है : “तुम लोगों के कब्जे में जैसे ही एक औरत आती है, तुम तुरंत राक्षस बन जाते हो...तुम मेरे रहस्यों की इज्जत करोगे। और मैं, मैं तुम्हारे शरीर की इज्जत करूंगी” (पृ. 112) कहती हुई वह बेहोश पति का लिंग चूमने लगी। फिर उसने अपने को छूकर पति के लिंग की कल्पना की। आगे वह कहती गई कि दोनों बेटियां उसके पति की नहीं हैं क्योंकि पति बांझ है, पत्नी नहीं : “सारी दुनिया समझती थी कि मैं बांझ हूँ। तुम्हारी मां चाहती थी कि तुम दूसरी शादी कर लो...तो मैंने तुम्हारी मां से कहा कि एक बहुत बड़ा हकीम आया हुआ है जिसमें इस तरह की समस्याओं का समाधान करने की अलौकिक शक्ति है...किंतु, वास्तव में, वह हकीम मेरी फूफी का दलाल था। उसने किसी के साथ, उसकी आंखों पर पट्टी बांधकर मेरा संभोग करवाया।...ऊपर से जैसे मेरे कष्ट को पूरा करने के लिए, रात को मुझे तुम्हारे साथ सोना पड़ता था!...और मेरे संगे सबूर,

औरत होना तो मुश्किल है ही, अब मर्द होना भी मुश्किल हो गया!” (पृ. 116-118) इस प्रकार वह पितृसत्तात्मक व्यवस्था को प्याज के छिलके की तरह छीलती गई कि कैसे पति, सास, परिवार और समाज सभी अंधे एवं नासमझ हैं। इतना ही नहीं, उपन्यासकार धर्म की सत्ता को भी उघाड़ता है परत-दर-परत : “अगर मजहब सिर्फ प्रकटीकरण का एक विवरण है, एक सत्य का प्रकटीकरण, तो फिर, मेरे संगे सबूर, हमारा वृत्तांत भी एक मजहब हुआ। हमारा अपना मजहब!...हां, शरीर हमारा प्रकटीकरण है। हमारे अपने शरीर, उनके रहस्य, उनके घाव, उनके कष्ट, उनके सुख, आनंद...मेरे संगे सबूर, तुम जानते हो कि अल्लाह का निन्दानवे यानी आखिरी नाम क्या है? वह हे, अल सबूर, सब कुछ सहने वाला! अपने को देखो, तुम खुदा हो। तुम हो पर चलते नहीं हो। तुम सुनते हो और तुम बोलते नहीं हो। तुम देखते हो, और दिखते नहीं हो! पर परवरदिगार की तरह तुम सहनशील हो, शक्तिहीन हो। और मैं, तुम्हारी मलक हूँ! तुम्हारी पैगंबर! मैं तुम्हारी आवाज हूँ। मैं तुम्हारी दृष्टि हूँ। मैं तुम्हारे हाथ हूँ! मैं तुम्हें उद्घाटित कर रही हूँ।” (पृ. 118) इस प्रकार वह स्त्री पुराने विमर्श को चुनौती देती है पुरुष सत्ता और धर्म की सत्ता को चुनौती देकर जैसे उत्तर अधुनिकतावादी स्त्रीवादी कहते हैं ‘निजी चीज राजनैतिक है’ यानी स्त्री का शरीर, घर में उसकी समस्या आदि के राजनैतिक आयाम हैं, सो वह स्त्री पात्रा अपने शरीर को सच्चा प्रकटीकरण मानती है। वह ईश्वर की तरह अपने पति को सब कुछ सहने वाला यानी सबसे कमजोर सिद्ध करती है मगर दूसरी तरफ खुद को पैगंबर कहकर ईश्वर की आवाज, दृष्टि, हाथ-पैर आदि मानती है। इस तरह वह लैंगिक विषमता के साथ-साथ ईश्वरीय खोखलेपन एवं पाखंड को नेस्तनाबूद करने की शुरुआत करती है। मगर इस प्रकटीकरण से वह अपना संयम खो बैठी तभी उसके बेहोश पति ने उसे पीछे से पकड़ लिया। वह चकित हो गई और इसे एक चमत्कार मानकर कहने लगी “मैं जानती थी कि मेरे गुप्त रहस्य तुम्हें वापस जिंदा कर देंगे मेरे लिए...।” तभी पति ने उसे पकड़कर दीवार पर उसका सिर दे मारा। वह गिर गई

मैं हूँ अपने शिकस्त की आवाज

ज्ञानप्रकाश विवेक

मगर चिल्लाई नहीं बल्कि बोली : 'मेरा संगे सबूर फट गया!' उसने समझा कि उसको कष्टों से मुक्ति मिल गई और उसने पति के पांव पकड़ लिए। मगर पति ने उसे दीवार पर बार-बार पटका जहां खंजर टंगा था। औरत ने चिल्लाकर खंजर हाथ से पकड़ लिया तथा पति के सीने में घोंप दिया मगर खून की एक भी बूंद नहीं निकली। आदमी ने फिर औरत को बालों से पकड़ा और जमीन पर पटका तथा उसकी गर्दन मरोड़ दी। "औरत की सांस निकली। आदमी ने सांस ली। औरत ने आंखें बंद कर ली। आदमी उन्मत्त आंखों से देखता रहा।" (पृ. 120) सीने में खंजर गड़ाए आदमी पुनः गद्दे पर लेट गया और औरत लाल रंग में रंगी हुई थी। कोई घर में अंदर आया। औरत ने धीरे-से आंखें खोली, 'हवा चली और उसके बदन के ऊपर से उड़ती चिड़ियों को ले चली।' यही उपन्यास का माखमक और कलात्मक अंत है।

यह प्रशंसनीय है कि उपन्यासकार ने स्त्री विमर्श को पन्ना-दर-पन्ना प्रकट किया है बिना किसी लाग-लपेट के। अनावश्यक विवरणों से मुक्त किंतु खोखली नैतिकता, जर्जर पितृसत्ता तथा लैंगिक अन्याय को ललकारने वाला मात्रा 120 पृष्ठ का यह उपन्यास निश्चित रूप से साहित्य की उपलब्धि है। यूं सच्चाई यह है कि स्त्री-मुक्ति का एकमात्र रास्ता देह नहीं है। अनुवादक शरत चंद्रा ने सहज अनुवाद करके सराहनीय कार्य किया है मगर कई बार तस्वीर को 'तसवीर' (पृ. 9), आहिस्ता-आहिस्ता को 'आहिस्ते-आहिस्ते' (पृ. 11), जगह पर को 'जगह में' (पृ. 19), चुप रह को 'चुप कर' (पृ. 27) लिखा गया है जिसका संपादन होना चाहिए था मगर राजकमल जैसे बड़े प्रकाशक इस पर ध्यान नहीं देते। निःसंदेह कुल मिलाकर यह उपन्यास पठनीय, सराहनीय और उदाहरणीय है। सो उपन्यासकार के साथ-साथ अनुवादक भी बधाई की पात्रा है।

संगे सबूर / अतिरुहिमी / अनुवाद शरदचंद्रा / राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 / मूल्य : 200.00 रु.

डी-71, निवेदिता कुंज, आर.के.पुरम, सेक्टर-10, नई दिल्ली-110022 फोन : 011-26162591

सा

राय अपने विशिष्ट गद्य और पारदर्शी भाषा के कारण जानी जाती हैं। 'चीलवाली कोठी' उपन्यास में भाषा किसी भाव की तरह, किसी अहसास की तरह...किसी गूंज की तरह महसूस होती है।

चीलवाली कोठी उपन्यास में सारा राय गुजिष्ठा वक्त्र को किसी सरमाए की तरह इस्तेमाल करती हैं...कुछ इस सलाहियत से कि चीलवाली कोठी की शिकस्तगी, किसी जिध्दा इंसान की तरह वातावरण रचने लगती है। चीलवाली कोठी अतीत के गौरव और वर्तमान की दुर्दशा का हतप्रभ कर देने वाला बयान है। यहां एक उदास लय है जो चीलवाली कोठी के हर बाशिंदे के व्यवहार में शामिल है।...कोठियां, हवेलियां, स्मारक, किष्ते, महल वर्तमान में होने के बावजूद 'विगत' को भी 'जी' रहे होते हैं। यही चीलवाली कोठी का भी सच है। चीलवाली कोठी की शिकस्तगी, प्रतीक की तरह है। गश्चैर से देखें तो हर शरस के अंदर एक शिकस्ता (कुछ टूटा-फूटा-सा) होता है। और उसके भीतर की यह आवाज मैं हूँ अपने शिकस्त की आवाज होती है। वही आवाज चीलवाली कोठी की है। चीलवाली कोठी की कथा बहुत सारे विस्मित कर देनेवाले किष्सों को छुपाए हुए है। जिसे लेखिका बड़े धैर्य, एहतियात और नफषसत से खोलती चलती है।

ऊपरी सतह पर सामान्य से दिखने वाले उपन्यास की कथा जटिल कथा है, जिसे लेखिका ने बड़े सलीके से साधा है। उपन्यास में जिस शिल्प के शऊर की बात की जाती है, वो यहां है। कई तरह का शिल्प, लबो-लहजष और भाषाई मिजषज ने उपन्यास को शानदार स्थान दिया है। चीलवाली कोठी की कथा अगर कोठी तक महदूद रहती तो वो सीमित

कथा होकर रह जाती। यह कथा कोठी की सीमाओं से परे मानवीय स्वभाव, जीवन और स्त्री की पहचान के संकट को भी बड़ी गहराई से व्यक्त करती है। लेखिका का मकषसद भी सिर्फ चीलवाली कोठी की कथा व्यक्त करना नहीं। मकषसद मीना है। मीना यानी मीनाक्षी। यानी मछली की आंखों वाली लड़की जो पानी को अपना जन्मदाता मानती है। जो अनाथ है, लेकिन जीवन के विराट उत्सवों से भरी। इसी अनाथ लड़की मीनाक्षी की उपस्थिति, दरहकीकत, उपन्यास के कथानक की उपस्थिति है।

अनाथालय में तंगहाल बल्कि नारकीय जीवन जीने वाली मीनाक्षी और इस मुश्किलों से भरे जीवन में भी उसका खिलंदड़ापन! सारा राय ने मीनाक्षी को इतना जीवंत, ख्युशतबीयत, बेबाक और गतिशील पात्रा के रूप में सिरजित किया है कि वो पूरे उपन्यास में किसी जीवन रेखा की तरह मौजूद है। यह भी एक सच है कि जिनके पास अपना कुछ नहीं होता (पहचान तक नहीं) कई बार वो लोग ताकषतवर होकर



उभरते हैं। अनाथालय में भूख, यातना, अवसाद सब हैं। लेकिन वो किसी बुझे आतिशदान का नाम नहीं। यहां भी सपने देखते बच्चे हैं—मीनाक्षी विशेष तौर से। आजपदी उसका सबसे बड़ा सपना है। समय के साथ दौड़ना उसकी आकांक्षा। भूख लगने पर पिलर के चूने की पपड़ियां तोड़कर खाना—मीनाक्षी के लिए सब सहज है। मुश्किल जीवन को और बाद में मन के अंतर्द्वंद्व को वो किसी उल्लास और सादगी से जीती चली जाती है। एक जवान होती अनाथ लड़की की उद्दाम इच्छाओं, आकांक्षाओं और कल्पनाओं का एक रूप यह भी है कि वो दीवार के साथ टिकी किसी अजनबी की साइकिल उठाकर चल पड़ती है। उसे साइकिल चलाना नहीं आता। इसके बावजूद वो उछलकर गद्दी पर बैठ जाती है और पैडल मारने लगती है। साइकिल गिरते-पड़ते चल पड़ती है। मीनाक्षी का उल्लास है। इसी मीनाक्षी को शिशु मंदिर अनाथालय से चीलवाली कोठी में भेज दिया जाता है—सेवा के लिए या फिर उर्मी या मासीमा का अकेलापन दूर करने के लिए।

उपन्यास में जब वातावरण, परिदृश्य और स्थान बदलते हैं तो भाषा भी नया रूप ले लेती है। भाषा की रचनात्मकता, उपन्यास के कथ्य को गतिशील, पठनीय और सघन बनाती है।

मीनाक्षी जब अनाथालय में थी तो चंचल, शैतान और नासमझ लड़की के रूप में थी। वहां भी वो वाचक के तौर पर उपस्थित रहती है और चीलवाली कोठी में भी। लेकिन चीलवाली कोठी में अन्य लोग भी नेरेटर के रूप में उभरते हैं। यह एक नया अनुभव है कि उपन्यास के सब पात्रा किसी-न-किसी रूप में 'वाचक' भी होते हैं। सब पात्रों के साथ किस्से और अवांतर कथाएं जुड़ी हैं। इससे सब पात्रा यकषिन करने लायक और मानीखेजा होते गए हैं।

मीनाक्षी का चीलवाली कोठी में प्रवेश, दरहकीकत चीलवाली कोठी की कथा का आरंभ है। अब भी मीनाक्षी में खिलंदझापन तो मौजूद है लेकिन वो सयानी भी हो गई है। चीलवाली कोठी की कथा—दो सौ वर्षों का इतिहास है जिसे बहुत सलीके से, कम शब्दों में समेट लिया गया है। अपने वर्तमान में राय प्रणव नारायण अपने तथा अपने परिवार के विषय में (परिवार की जर्जर अवस्था) बताते हैं। वो कहते भी हैं कि मैं बुझ चुका सूरज हूँ। एक नकारा और शराबी पिता अपने बच्चों के भविष्य से नाउम्मीद हो चुका है। यह शिकस्तगी

चीलवाली कोठी की है और पतन एक राय परिवार का। यानी, एक शिकस्ता बाप, अपनी संतान के विषय में बताते हुए, जैसे कुछ ज्ययादा टूट-फूट गया हो। बड़ा बेटा आदित्य—मनोरोगी, छोटा बेटा विक्रम समाजसेवी और नशे का आदी। बेटे उर्मी, किसी टापी जैसी अंतर्मुखी और अहंकारी। और राय प्रवण की पत्नी, जिसे मीनाक्षी मासीमा कहती है—राय प्रवण तथा परिवार को अपने प्रभाव में रखने वाली स्त्री।

ऐसे अराजक, खस्ताहाल, डरावने और अवसाद के मारे घर (कोठी) में मीनाक्षी अपनी जगह बना लेती है। यहां के घटनाक्रम और परिवेश से मीनाक्षी स्तब्ध रह जाती है। स्तब्ध वो तब भी होती है जब विक्रम उससे प्रेम करने लगता है। प्रेम वो भी करने लगती है। लेकिन यह प्रेम अलग तरह का है। उपस्थित और अनुपस्थित! मीनाक्षी के मन में भावनाओं का आवेग है। लेकिन दुविधा और कशमकश भी है। विक्रम उससे प्रेम तो करता है। लेकिन उससे विवाह करने का साहस नहीं जुटा पाता। यहां न केवल वर्गभेद है बल्कि हैसियत और औकषत का समीकरण भी है।

सारा राय ने एक प्रेम करने वाली युवा (और अनाथ) लड़की के मन के आवेग, उथल-पुथल, हाहाकार और अंतर्द्वंद्व को बड़े करीने से, बड़ी गहराई से व्यक्त किया है। अनाथालय की भूख को भी बड़े उल्लास के साथ झेलती लड़की का द्वंद्व और मन की बेचैनी बड़ी शिद्ध के साथ व्यक्त हुई है। एक अनाथ स्त्री जिसका कुछ भी अपना नहीं, उसके मन का निर्जन—जिसमें आघात, प्रेम, कशमकश स्मृति और उसका आखेट—वही मीनाक्षी का निर्जन सिर्फ अपना है।

विक्रम एक सम्पन्न स्त्री से विवाह कर लेता है। मीनाक्षी सब देखती है। चुप रहती है। गशलिब का एक शेर है—जब तवक्शको ही उठ गई गशलिब/क्यों किसी का गिला करे कोई। मीनाक्षी कोई शिकायत नहीं करती। बेचैन जफूर होती है। और विक्रम! शादी के बाद पत्नी उसे इतने तनाव में रखती है कि वो आत्महत्या कर लेता है। मीनाक्षी के लिए चीलवाली कोठी में अब कुछ भी नहीं। वो नौकरी के लिए दिल्ली चली आती है। उसके साथ चीलवाली कोठी की स्मृतियां हैं। और विक्रम, वो किसी बायाबां की तरह उसमें मौजूद है। यहां, दिल्ली के एक फ्लैट में अकेली मीनाक्षी। सुबह का वक्शत। यादों का दश्त! गुजिश्ता समय की उदास लय! और एक नई शुरुआत!

उपन्यास लिखना अगर कला है तो वो कला यहां दिखाई देती है। उपन्यास लिखना अगर किसी संसार को रचने जैसा है तो चीलवाली कोठी भी एक छोटा—सा संसार है। और उस संसार के अनेक पात्रा, अपने आपको व्यक्त करते हुए। राय प्रवण का दुख। मासीमा की दृढ़ता। उर्मी की रहस्यमयी चुप। विक्रम का प्रेम। और अनाथ लड़की मीनाक्षी का तपाक, धैर्य, गतिशीलता और मसखरापन!

उपन्यास अपने प्रभावशाली कथानक के कारण महत्त्वपूर्ण कृति के रूप में सामने आता है तो गद्य की संश्लिष्टता (और सादगी) इसका वैभव है। स्मृतियां और किस्सागोई, उपन्यास की कथा को बेहतर और सशक्त तो बनाते हैं उसे रवानी भी प्रदान करते हैं। भाषा इतनी सजीव कि वो ख़ुद किसी रचना जैसी है और उपन्यास की यह भाषा, दृश्यों को रचने का अनुभव बन जाती है।

उपन्यास में चकित कर देने वाली बात यह है कि सभी स्त्री पात्रा दमदार हैं। वो अपनी ताकप्टवर उपस्थिति का अहसास भी कराते हैं। लेकिन सभी पुरुष पात्रा—कमजपेर, कायर, नकारा और दबू हैं। मालूम नहीं ऐसा सहजभाव से हो गया है या फिर लेखिका ने स्वयं, चीलवाली कोठी के प्रत्येक पुरुष किरदार को कमजपेर हो जाने दिया है।

इधर, स्त्री विमर्श के नाम पर जो धड़धड़ फामूलाबद्ध रचनाएं (उपन्यास) आ रही हैं। चीलवाली कोठी की मीनाक्षी उनसे बिलकुल भिन्न है। यहां एक स्त्री पात्रा का होना और न होना है—(विक्रम से प्रेम करते हुए)। उसका एक बीहड़ है। वो स्त्री जफूर है। लेकिन स्त्री देह के अतिरिक्त, स्त्री के बहुत सारे सच (द्वंद्व, जिज्ञासाएं, पहचान, रूतबा, विडंबनाएं, यथार्थ और सपने) भी होते हैं। सारा राय बड़ी शालीनता और शऊर के साथ, स्त्री के उस सच तक ले जाने में सफल हुई है। विक्रम के सम्मुख मीनाक्षी का चुपभरा प्रतिवाद, मन को स्पर्श करता है। यूं भी प्रेम में कोलाहल नहीं होता है। सारा राय के पूरे गद्य में, खामोशी की एक जगह है जिसे सुना जा सकता है...जिसे देखा भी जा सकता है।

चीलवाली कोठी / सारा राय / हार्पर कॉलिंस पब्लिशर्स इंडिया, ए-53, सेक्टर-57, नोएडा-201301 / मूल्य : 250.00 रु.

1875, सेक्टर-6, बहादुर गढ़-124507 (हरियाणा)
मो. 09813491654

हाशिए के समाजों की निरंतर संघर्षशीलता

शंभु गुप्त

व

रिष्ट कवि-कथाकार हरिराम मीणा का पंजाब से भी पहले के बल्कि उससे भी बड़े एक जघन्य जलियांवाला कांड पर आधारित एक शोधपरक आत्मीय उपन्यास 'धूणी तपे तीर'

पिछले दिनों आया है, जो जितना शोधपरक है, प्रायः उतना ही बल्कि उससे कुछ ज्यादा ही आख्यानपरक। शोध और आख्यान मिलकर किस तरह एक श्रेष्ठ रचना की सृष्टि करते हैं, यह उपन्यास इसका एक उल्लेखनीय उदाहरण है। इधर हिंदी में ऐसे उपन्यासों का चलन बढ़ा है। इस तरह के उपन्यासों में लेखक की इतिहास-पिपासा तो शांत होती ही है लेकिन इससे भी बड़ा फायदा यह होता है कि इससे वह अपने अंतर्द्वंद्व संलक्ष्य, जो कि मूलतः भावनात्मक या कहे कि सांस्कृतिक जड़ें तलाशने की प्रक्रिया से जुड़ा होता है, की प्रतिपूखत कर रहा होता है। जैसे कि यदि इसी उपन्यास को लिया जाए तो हरिराम मीणा इसमें साहित्य-संबंधी अपने आदिवासी एजेंडे को आगे बढ़ाते नजफ आते हैं। दलित की तरह आदिवासी संचेतना भी इस समय का एक महत्वपूर्ण विमर्श है और जैसा कि दलित-आंदोलन के साथ दुर्घटित हुआ है कि राजनीति में वह सत्ताभियान का एक अवसर-जैसा हो गया है और साहित्य में ही उसकी सही-सही ऊर्जा परिलक्षित होती है उसी तरह आदिवासी-चेतना भी राजनीति में जहां अधिकांशतः दक्षिणपंथ के चंगुल में जा फंसी है, साहित्य में अभी भी उसका मूल क्रांतिकारी स्वरूप सुरक्षित है। संभवतः इसी का यह प्रभाव है कि हरिराम मीणा अपने कथानायक और इधर के आदिवासियों के प्रथम मसीहा और सर्वमान्य गुरु गोविंद गुरु

के विचाराग्रहों से नाइतिफाकी-सी जाहिर करते हुए उपन्यास का अंत एक बहुत ही नाजुक-से मोड़ पर ले जाकर करते हैं। कहने वाले कह सकते हैं कि मैं क्या यह समीक्षा की शुरुआत में ही उपन्यास के अंत की बात करने लगा! यों देखा जाए तो उपन्यास में गोविंद गुरु का समकालीन परिदृश्य, लगभग समूचा ही राजनैतिक, सामाजिक, आख्यक वातावरण पर्याप्त विस्तार और ब्यौरों के साथ रोचकता-सहित दर्ज है। उस समय की अंग्रेज हुकूमत, अंग्रेज अफसरान, विभिन्न देसी रियासतों के राजा-महाराजा, रावल-महारावल, राणा-महाराणा, उनके दीवान, सलाहकार, दूत-राजदूत, सेठ-साहूकार, कारिंदे, देसी रियासतों की छोटी-छोटी बातों पर आपसी रंजिष्ठा और इस फूट का बेपनाह फषयदा

उठाते अंग्रेज देसी रियासतों का अपनी ही प्रजा पर दमन और अत्याचार और इस मामले में अंग्रेजों को फषयदा पहुंचाकर उन्हें खुश रखने की बेहयाई, भील आदिवासियों की जीवनचर्या उनकी सामाजिक-आख्यक स्थितियां देसी रियासतों और अंग्रेज दोनों का ही उनके प्रति दोगम दर्जे का व्यवहार, आदिवासियों की संप-सभा, संप-सभाओं के आयोजन, संप-सभा का आंदोलन और उससे फैलती 'जागरती' की लौ, आदिवासियों की बढ़ती समझ और उनमें आता मनोवैज्ञानिक परिवर्तन, आत्मसम्मान और स्वाभिमान की भावना, मेले, नृत्य, लोकगीत, युवा-जीवन, युवक-युवतियों के बीच का आकर्षण आदि-आदि ढेरों-ढेर कथा-दृश्य इस उपन्यास का कलेवर तय करते हैं। लेकिन यह सब एक तरफ और उपन्यास का अंतिम हिस्सा एक तरफ इसलिए यहां हमें पीछे से आगे की ओर चलना पड़े तो यह एक तरह की मजबूरी ही होगी। जो हो। हम आगे बढ़ें।

उपन्यास का यह नाजुक मोड़ है, गोविंद गुरु का अपने पूरी तरह अहिंसावादी और अब्यावहारिक अध्यात्मवादी विचारों के प्रति यकायक उभरा अनात्मविश्वास और उससे पैदा हुआ घनघोर अंतर्द्वंद्व। यह अंतर्द्वंद्व बहुत सघे हुए शिल्प और ताखकक घटनाचेषण के तहत लाया गया है। कथा के जिस बिंदु पर यह अंतर्द्वंद्व नमूदार होना शुरू होता है, वह इस औपन्यासिक परियोजना का वह मुकषम है, जहां से इसे एक नई प्रासंगिकता और वैमखशक आधार मिलने लगते हैं, जहां से यह अपने इतिहास और परंपरा के पुराख्यान और पुनर्व्याख्या का सृजनात्मक रूप लेने लगती है।

हरिराम मीणा इस उपन्यास में गोविंद



गुरु के मन में पैदा हुए जिस अंतर्द्वंद्व का आख्यान करते हैं, वह आश्चर्यजनक रूप से कथित विचारधारागतता की एक विशिष्ट परिसीमा को उलांघते हुए अंततः उस विचारधारा की एक अप्रतिहत शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित होता है। यहां अलग से यह कहने की ज़रूरत नहीं है कि हरिराम मीणा इधर के आदिवासी रचना-परिदृश्य की एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं। हिंदी में इधर जो आदिवासी विमर्श हुआ है, उसमें हरिराम मीणा का अपना योगदान है। उन्होंने न केवल विचार बल्कि रचना के माफ़त भी आदिवासी अस्मिता का इतिहास-भूगोल तलाशा है। इस प्रक्रिया में वे प्रतिक्रियावाद के स्थान पर एक ठोस वैचारिकता का सहारा लेते हुए आगे बढ़ते हैं। यहां हिंदी के मौजूदा दलित-लेखन और आदिवासी-लेखन की सृजनात्मक तुलना दिलचस्प हो सकती है। दलित-लेखन में जहां कई बार प्रतिक्रियावाद हावी होने लगता है, वहीं आदिवासी-लेखन इस छूट की बीमारी से भरसक बचने की कोशिश करता चलता है। इसका कारण शायद यह हो कि दलित जहां विचार के रास्ते पर चलते-चलते अचानक एक बीच का रास्ता निकालते हुए यथास्थिति बनाए रखने पर उतर आते हैं वहीं आदिवासी अपनी तयशुदा मंजिल पर आगे बढ़ते हुए एक नई दुनिया बनाने में संघर्षरत रहते दिखाई देते हैं।

प्रसंगवश यहां हम इस उपन्यास के एक हैरतअंग्रेज वाक्य का उल्लेख करना चाहते हैं, जिसमें कथित अंग्रेज फ़ौज का एक देसी अफसर खैरवाड़ा छावनी का सूबेदार लियाकत खान एक आदिवासी युवती दल्ली को पहले तो अपने दोस्त रेंजर किसन सिंह और उनके कर्मचारियों के ज़रिए जंगल से उठवाता है और फिर उसके साथ वहशियाना तरीके से मुंह काला कर लगभग मरणासन्न अवस्था में नाहर मगरा के नीचे बहने वाले नाले में फिंकवा देता है, जहां अगले दिन उसकी लाश मिलती है। यह तो खैर एक फ़ौज का अफसर था। अंग्रेजों की फौज में रहते-रहते अपना देसीपन भूल गया था। लेकिन



उस समय का शेष समाज भी विशेषतः राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक रूप से शक्ति-सम्पन्न वर्ग; इनमें सेठ, ठेकेदार तथा जागीरदार, रियासत और भूरेटियों के कारिंदे आदि सभी शामिल थे। आदिवासी स्त्रियों के प्रति प्रायः इसी तरह का रवैया रखता था। ये लोग झांसापट्टी, थोड़ा-बहुत लोभ-लालच आदि देकर और यदि इससे काम न बने तो ज़बरदस्ती भी, इनके साथ बुरा काम करने के आदी थे। आदिवासी सचेतना में ऐसे लोगों के लिए एक ही सजष हो सकती है—सजष-ए-मौत! छेड़खानी की सजष हाथ-पैर तोड़ देना और बुरे काम की सजष मौत।

यहां यह प्रसंग दरअसल इसलिए है कि इस मुद्दे पर दलित-लेखन और आदिवासी-लेखन में एक भारी अंतर पाया जाता है। दलित-लेखन में यह प्रावधान है कि यदि कोई व्यक्ति, तय है कि यह व्यक्ति किसी सवर्ण कही जाने वाली जाति का ही होगा, किसी दलित स्त्री के साथ ज़बरदस्ती करता है या झांसा या लोभ-लालच देकर उसे फंसाता है तो इसका बदला उस जाति या उस व्यक्ति के परिवार या कुटुम्ब की किसी स्त्री के साथ बिलकुल ऐसा ही करके लिया जाना चाहिए! पता नहीं, दलित-चिंतन में यह पुरुषवर्चस्ववाद कहां से घुस आया! और उसके के साथ! लेकिन आदिवासी सचेतना इस मामले में सही निशाने पर सही चोट करने में विश्वास करती है।

सार्वजनिक जीवन में काम करते हुए जब कोई व्यक्ति क्रांतिकारी रास्ते पर अग्रसर होता है तो उसका जीवन ठीक वैसा होता है,

जैसा यहां गोविंद गुरु का हम देखते हैं। लेकिन सार्वजनिक जीवन में काम करना कोई ग्लैमर की दुनिया में काम करना नहीं है। या किसी पर कोई उपकार करना नहीं है। यह आदमी के अपने मनोविज्ञान और जीवनोद्देश्य, जीवन की सार्थकता तलाशने का उपक्रम है जिसमें कोई दूसरा ज़्यादा मदद नहीं कर सकता।

देखने की बात यह है कि गोविंद गुरु आदि इस समय अपने लड़ाकों को अंग्रेजों पर अपनी तरफ से पहले हमला करने की इज्जत दे देते तो अगला दृश्य क्या होता? मेरा अनुमान है कि जो भी होता, जो पहल न करने की वजह से हुआ, उससे कुछ कम बुरा ही होता। आगे गोविंद गुरु जो यह सोचते हैं कि आखिर कहां क्या कमी रह गई, जिसका कि ऊपर हवाला दिया गया, वह शायद यही थी! लेकिन सवाल दरअसल यही तो है कि गोविंद गुरु ऐसा कर कैसे सकते थे! क्योंकि उन्होंने तो तय कर रखा था कि “हम जवाबी कार्यवाही करेंगे। पहले हमला नहीं करेंगे।” (वही)। इसका कारण शायद यह था कि “भगवान भोलेनाथ एवं भैरव बाबा सबकी भली करेगा।” (वही)। बकौल अंग्रेज, आदिवासी लोगों को यह जो एक भ्रमित विश्वास था कि गोविंद गुरु एक ‘चमत्कारी साधु’ हैं जो किसी भी ‘अनहोनी को टालने’ का मादा रखता है (वही, पृ. 363) और यह कि ‘हमारी बंदूकों व मशीनगनों से गोलियों की जगह पानी निकलेगा इसलिए किसी को डरने की ज़रूरत नहीं।’ (वही, पृ. 364) ये सब चीजें इसी तरह की अलौकिकताओं से पैदा होती हैं। तो एक तरफ तो यह ईश्वरीय अतिविश्वास और दूसरे अनाक्रामकता; हालांकि ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और वह सिक्का है, कथित अहिंसा और शांति और अनुपद्रव का आग्रह “x x x हमें धीरज से काम लेना है। हम राज की आदिवासी-विरोधी नीतियों का सामूहिक विरोध करते हैं। हमारा विरोध आदिवासियों से जागृति पैदा कर अन्याय को

सहन नहीं करने तक सीमित रहना चाहिए। इस काम में कहीं कोई अशांति, हिंसा या उपद्रव पैदा न किया जाए, यह आप सभी भाइयों को ध्यान में रखना होगा।” (वही, पृ. 307)। राज्य की जन-विरोधी नीतियों का विरोध भी हो जाए और कोई अशांति, उपद्रव और हिंसा न हो, यह एक विचित्रा पहली है जो आज तक सुलझ नहीं पाई है। आगे महात्मा गांधी ने भी जनसंघर्ष की इस प्रविधि को अंग्रेजों के ही खिलाफ लागू किया था और चीजों को ज़्यादा संभाल नहीं पाए थे।

इस उपन्यास का यह सबसे बहुमूल्य निष्कर्ष है कि सामाजिक और धाखमक आंदोलनों को यदि वास्तव में एक क्रांतिकारी परिवर्तनकारी आख्यक और राजनैतिक आंदोलन का स्वरूप देना है तो अहिंसा, शांति, अनुपद्रव जैसे विधि-निषेधों से मुक्त होना होगा! लेकिन यह दरअसल आज से सौ-सवा-सौ साल पुरानी बात है। तब इसके संदर्भ अलग थे। तब आज की तरह समाज का अर्थ जाति-बिरादरी और धर्म का अर्थ संप्रदायवाद नहीं था। उस समय आंदोलन आज की तरह सत्ता के साथ समझौता या दलाली का पर्याय नहीं था। यह अजबिब है कि जैसे-जैसे हम आधुनिक हुए हैं, तत्ववाद हमारे सिर पर सवार होता चला है। आदिवासी समाजों में आंदोलनात्मकता आज भी जारी है लेकिन उसका नेतृत्व ऐसे हाथों में है, जो सत्ता की बिसात पर सांप्रदायिकता की गोटियां खेलता है। आदिवासी उनके लिए ‘वनवासी’ हैं और वे उनमें तर्कपूर्ण समझ विकसित करने और अपनी नियति बदलने की लड़ाई के बजाय उनका ‘कल्याण’ करने में लगे हैं। यह जाल बड़ा गहरा है और इसका एक सुनिश्चित हिडिन एजेंडा है। इस हिडिन एजेंडे के अनुसार योजना सिर्फ यह है कि इन्हें अपने धर्म-ध्वज के तले लाकर इनकी मूल पहचान से महरूम किया जाए और जब ये अपनी जड़ों से विच्छिन्न हो लें तो इनका मनोवैज्ञानिक अपहरण कर इन्हें अपने मनुवादी सांचे में फिट कर अपनी व्यवस्था का एक उपजीव्य बना दिया जाए! बड़े ही संगठित तरीके से जो यह कथित सामाजिक-धाखमक अभियान चल रहा है उसके बहुत ही घातक नतीजे अब आना शुरू हो गए हैं। जिस मानगढ़ और उसके आस-पास के इलाके की इस

उपन्यास की यह कथा है, वह समूचा ही इलाका इस समय इन धर्मध्वजाधारियों के पर्याप्त कब्जे में आया हुआ है। एक अपरिहार्य सवाल मौजूदा समय में इसे लिखे जाने की प्रासंगिकता का है जिससे टकराए बिना इसका महत्त्व समझ में नहीं आ सकता।

मेरा ख्याल है कि हरिराम मीणा इस उपन्यास के मार्फत आदिवासी जनसमूह की उस अप्रतिहत ऊर्जा और संघर्षशीलता की परंपरा का आख्यान करना चाहते हैं जो इस समय या तो किन्हीं और मदों में रिड्यूस हो रही है या करवाई जा रही है।

हरिराम मीणा का यह उपन्यास हिंदी-उपन्यास की एक पुरानी लेकिन इस बीच नए सिरे से प्रमुखता-प्राप्त प्रविधि में लिखा गया है। यह प्रविधि है शोध/सर्वेक्षण द्वारा अप्राप्त आख्यान। इसकी ओर प्रारंभ में ही मैंने संकेत किया। यहां इतना और कहना है कि शोध एवं सर्वेक्षण द्वारा प्राप्त सामग्री को आख्यान में बदलना और वह भी यदि इतिहास से संबद्ध हो तो एक भारी जोखिमभरा काम है। इसमें सबसे बड़ा खतरा प्रामाणिकता का होता है। दूसरा खतरा वर्तमान प्रासंगिकता का होता है। अतीत को यहां वर्तमान की निगाह से देखना होता है और उसके लिए ज़रूरत पड़ती है निर्ममता और तटस्थता की और यह इतिहास यदि अपने ही पुरखों से जुड़ा हो तो फिर खतरों के कहने ही क्या! लोग बातों को ले उड़ते हैं और जातिवाद, क्षेत्रवाद, कुटुम्बवाद और न जाने क्या-क्या आरोप लगाने लगते हैं। हरिराम मीणा पर ये आरोप नहीं लगाए जा सके तो इसका कारण शायद यही था कि इस मामले में वे काफी झोली फटकार कर चले हैं। मैंने ऊपर जो यह कहा है कि हरिराम मीणा गोविंद गुरु का गुणानुवाद करने के लिए इस उपन्यास को नहीं लिखते और वे यहां उनकी ऐतिहासिक भूलों को बाकषयदा उजागर करते हैं तो इसका एक अर्थ यह भी है कि वे अतीत को वर्तमान की तुला पर ही तौल रहे हैं। शोध और सर्वेक्षण पर आधारित कथा की यह विवशता होती है कि वह सबसे पहले अपनी अपरिहार्यता सिद्ध करे। वर्तमान राजनैतिक एवं सामाजिकाख्यक संदर्भों में अपनी उपयोगिता और आवश्यकता प्रतिपादित करे। हरिराम मीणा गोविंद गुरु के इस आख्यान

को आदिवासी-अस्मिता के अंतहीन और अनवरत संघर्ष का प्रतीक-प्रदर्श बनाने में जो कोई कोर-कसर नहीं छोड़ते तो प्रकारांतर से यह इसकी वह अपरिहार्य आवश्यकता और उपयोगिता ही है जिसकी बात यहां की जा रही है। गोविंद गुरु अपनी और लोगों की शहादत को इस संघर्ष का अंत या पराजय नहीं मानते। कुरिया जैसे ‘बांका भगत’ (376) अभी जीवित हैं और “x x x मानगढ़ पर्वत पर यहां-वहां पड़े हताहतों के ढेरों के बीच दीपालय में रखे हुए दीपक बाती के बुझ जाने के बावजूद वह गर्म थी और रातभर जली गोविंद गुरु की धूपी की आग बुझी हुई थी लेकिन राख के भीतर चिनगारियां दबी हुई थीं।” (वही, पृ. 375)। उपन्यास से उपलब्ध होने वाला अगला सत्य यह है कि फीनिक्स की तरह इस राख से फिर कोई आकृति जन्म लेगी और संघर्ष का क्रम फिर चल निकलेगा, “पतझड़ के मौसम में जैसे पके हुए पत्ते टहनियों से गिर जाते हैं। वैसे ही आदिवासी-अस्मिता के इस संग्राम के हवन-कुंड में गोविंद गुरु के चेले आहुति दिए जा रहे थे। गोविंद गुरु मन ही मन सोचे जा रहे थे कि पतझड़ के बाद चैत का महीना आएगा। नई कोंपलें फूटेंगी अपनी और उन्हीं के साथ पलाश के पेड़ों पर फूटने वाले लाल-लाल फूलों की मानिंद संप सभा के सदस्य रूपी दहकते अंगारे लपलपाएंगे और जंगल की रक्षा के लिए ‘जंगल की आग’ भड़कती रहेगी।” (वही, पृ. 374)। गोविंद गुरु का यह आशावाद महज एक आशावाद नहीं है बल्कि अरसे से हाशिए पर पड़े एक समाज की प्रतिरोधी चेतना की ‘अग्नि का’ वह ‘अलाव’ है जो निरंतर ‘जल रहा’ है। (द्रष्टव्य, वही, पृ. 375)। कहना न होगा कि यह अलाव गोविंद गुरु के गुजषने के इतने साल बाद आज भी जल रहा है। दरअसल हाशिए के समाजों की यह निरंतर संघर्षशीलता इस आख्यान का वह निहितार्थ है जो इसे आज भी प्रासंगिक बनाए हुए है।

धूपी तपे तीर / हरिराम मीणा / साहित्य उपक्रम, करनाल, (हरियाणा) / मूल्य 100.00

21, सुभाष नगर, एन.ई.बी., अलवर-301001, मो. 9414789779

कहानी

जो हममें बचा रह जाएगा

वंदना मिश्रा

सा

हित्य एक ऐसा समुद्र है जो कोई सीमा नहीं जानता, परंतु मनुष्य विश्व की सभी भाषाएं तो नहीं जानता, अतः संपूर्ण विश्व का साहित्य पढ़ने की उसकी अभिलाषा अधूरी—सी रह जाती है। ऐसे में जितेन्द्र भाटिया के दो संग्रह 'जिस मिट्टी से बने हैं हम' तथा 'नदी का तीसरा किनारा' उम्मीद की किरण जगाते हैं। विश्व साहित्य का अवगाहन करके जितेन्द्र जी ने एक अद्भुत, बहुमूल्य खजाना हिंदी भाषा के पाठकों को सौंपा है।

वैसे इसका प्रकाशन कथादेश पत्रिका में 'सोचो साथ क्या जाएगा' शृंखला के अंतर्गत धारावाहिक रूप में हो चुका है। परंतु पुस्तकाकार पहली बार आया है।

इस भंडार में लेख भी हैं, आत्मकथा, रिपोर्टाज एवं कथाएं भी। कहना न होगा कि इनमें से कुछ छोड़ पाना मुश्किल है। और उनके पहले दी गई महत्त्वपूर्ण टिप्पणियां जो न केवल लेखक का परिचय देती हैं बल्कि उसके देश की राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों को भी सामने लाती हैं।

कुछ जरूरी अंशों की झलक दृष्टव्य है—यथा काफ़का एवं स्टैइनबेक की परंपरा के लेखक ग्राहम स्विफ्ट के उपन्यास 'शटलकाक' का अंश जो पिता—पुत्रा के अंतर्द्व की माखमक कहानी है। उन्हें आख्यक अभावों से ज़्यादा नई दुनिया के संवेगात्मक दबावों का जिष्क किया है। पुत्रा समझ नहीं पाता कि अच्छे पद पर तैनात उसके पिता अचानक किस आघात की वजह से भाषायी कोमा में चले गए, उसे मां की मृत्यु ही एक मात्र कारण लगता है। परंतु यह नहीं समझ पाता कि उसका चाहकर भी पिता को प्रेम व सहानुभूति (रहते हुए भी) न दर्शाना एक बड़ा कारण है। डैड मैं तुम्हारी इज्जत ही नहीं तुमसे बेइंतहा प्यार भी करता हूँ..लेकिन

इस बात का इज्ज़ार कभी कर नहीं पाया।" लेकिन वही बेटा अपने बच्चों से उसी प्रेम व सहानुभूति की उम्मीद करता है—लेकिन डैड आखिर क्या वजह है कि मेरे अपने बच्चे मेरी ज़रूरत नहीं करते?" यह एक शाश्वत प्रश्न है, हर पीढ़ी को लगता है कि अगली पीढ़ी ज़्यादा संवेदनहीन है।

जर्मनी के लेखक 'सिगफ्रीड लेंज' को उनके उपन्यास 'दि जर्मन लेसन' के लिए याद किया जाता है। उनकी कथा 'सरकार का समर्थन' किसी भी देश की हो सकती है। पत्राकारिता से जुड़े होने के कारण उनके वर्णन में एक तटस्थता है जो कथा को और रोचक बना देती है। एक सरकारी दौरे में सत्य को कितना छिपाया जाता है। एक अशांत प्रदेश में कितनी शांति दिखाई जा रही है, कितनी है, इसका लेखा—जोखा। लोग

डरे हुए थे और उनसे ज़ख़रदस्ती पक्ष में बातें कहलाई जा रही थीं। यहां तक कि वे सरकार का विरोध करने वाले अपने बेटों को भी गलत बता रहे थे। वे आजषदी को व्यर्थ की चीज़ मानते हैं क्योंकि उससे भूख नहीं मिटती। वे स्वयं को आजादी लायक परिपक्व भी नहीं मानते हैं। यहां तक कि अकेले में भी सरकार विरोधी बात नहीं करते। हां चुपके से हाथ मिलाते समय पकड़ाया गया ताजा टूटा दांत तथा व्यक्ति का सूजा होंट सारी स्थिति का बयान कर देता है।

पेशे से पत्राकार पाकिस्तान के अनवर इकबाल की कथा रिपोर्टाज 'पंद्रह कोड़े मानव मनोविज्ञान की सूक्ष्मता से पड़ताल करता है। पत्राकार कोड़ेबाजिष के सख्त खिलाफ है परंतु एक अंधी लड़की को दी गई कोड़ों की सजष मुलतवी होने के ऐलान से क्षुब्ध भीड़ में स्वयं को भी पाकर उसे आश्चर्य होता है—"अपने बारे में इस दुःखद हकीकत को जानकर मुझे काफ़ि तकलीफ़ हुई। (पृ. 112)

वियतनामी कहानी 'सफ़ेद कबूतर' न्यूगेन क्वांग यान की है। यह मनुष्य की जिजीविषा की कथा है जो हमारी कल्पना के लिए अधूरी छोड़ दी गई। आठ वर्ष बाद घर आया फौजिष अपने बेटे में सफ़ेद कबूतर का रूप देखता है और आशा से भरकर विनाशकारी बम को निष्क्रिय करने लगता है।

जापानी कथा 'फुदारकु तक का सफ़' इनोई यासुशी द्वारा रची गई है। यह एक ज्वलंत प्रश्न से टकराती है कि क्या उस दुनिया की तलाश में इस दुनिया को टुकराना जायज है।

कोनको जापनी परंपरा के अनुसार फुदारकु (जीते जी समुद्र की यात्रा, डूबने के लिए करना) की ओर जाता है। परंतु कल तक अपने पहले गए लोगों के जिन चेहरों पर उसे तेजष व गर्व लगता था, वे आज दयनीय व डरे हुए लगने लगे। वह बच निकलता है लेकिन



फिर उसे डुबाया जाता है। वह अस्पष्ट शब्दों में इस प्रथा का विरोध—सा करता है—“वेनोंन को पाना चाहो तो मत रखना विश्वास फुदारकु पर।”

वांग मंग की चीनी कथाएं व्यंग्य के लिए विख्यात हैं। आश्चर्य यह है कि अपने तीखे तेवर के बावजूद प्रतिबंधित नहीं हैं। जैसा कि अपनी टिप्पणी में भाटिया जी लिखते हैं इन्हें पढ़कर परसाई जी की याद आती है। ‘दस्तजब्दा मेंढक’ उन आत्ममुग्ध व भयाक्रान्त लोगों की कथा है जो अपनी कमजबरी के कारण सारे संसार में कमी देखते हैं तथा अपनी सोच को संपूर्ण संसार पर लादना चाहते हैं लेकिन कुछ कमजबरी लोग कुछ समय के लिए उनके प्रभाव में आते हैं। रेडियो योगाभ्यास एवं उबले अंडे परंपरावादी एवं हठधर्मी लोगों पर व्यंग्य है जो प्रतिभाशाली होकर भी सिर्फ एक सिद्धांत से चिपके रहते हैं, दूसरे मत को परखते भी नहीं और एकांगी जीवन जीते हैं। ‘मैं भी तुम्हारी बिरादरी का हूँ कहानी ऐसे शोषक वर्गों की कथा मानी जा सकती है जो शोषितों से स्वार्थवश तमाम सहानुभूति दिखाते हैं और येन—केन प्रकारेण साबित करने का प्रयास करते हैं कि वे उसी वर्ग के हैं या भिन्न वर्ग में भी भिन्न है और अंत में—‘बेचारी कोयल इन तर्कों को सुनकर इस कदर ऊबी कि नींद के झोंकों में वह गुलाब की झाड़ी के पास लुढ़ककर ऊँघने लगी। सांप फिसलता हुआ आगे बढ़ा और मुंह खोलकर उसने एक ही ग्रास में अपनी जाति बहन को समूचा निगल लिया।’ ‘सदाबहार गायिका’ अवसरवादी लोगों की कथा है (पृ. 164) जिनके पास हर अवसर पर अपने पक्ष में तर्क होते हैं।

‘जाओश नियान’ चीनी मुक्ति फौज के सैनिक होने के साथ—साथ अभिनेता भी रह चुके हैं। उनकी कथा ‘आई.क्यू.टेस्ट’ एक रोचक कथा है जिसमें टेस्ट के नाम पर खींचे गए गोले को जितने बड़े वर्ग के सामने रखा गया उसने उतने असंतोषजनक व छर्छिवाब दिया। महाप्रबंधक ने कहा “बिना विमर्श किए इसका जवाब कैसे दिया जा सकता है।” (पृ. 160) लेकिन छोटी कक्षाओं में उसका रोचक व अनेक जवाब ज(कल्पनापूर्ण) आया। कार्यक्रमकर्ता ने प्रस्तुत करते समय उसका सब—टाइटल दिया “लोग आखिर अपनी कल्पनाशक्ति कैसे खो बैठते हैं?”

हमारी दुनिया लगातार खतरनाक और मैली होती जा रही है हम उसे और गंदा

बनाकर अपने बच्चों को सौंप रहे हैं। अच्छे व बड़े लेखक बच्चों के लिए कुछ लिखना नहीं चाह रहे हैं। कीथ वाटरहाउस की कथा ‘अल्बर्ट और उसका जहाज’ पढ़ते हुए भाटिया जी के शब्दों में कहें तो बार—बार प्रेमचंद की ईदगाह याद आती है। शो केंस में रखा जहाज ‘क्वीन मेरी’ अल्बर्ट को इतना पसंद आया कि बतौर क्रिसमस उपहार वह उसे लेने की जिद कर बैठा बावजूद यह जानने के कि उसकी आखक स्थिति ऐसी नहीं है। उसका पिता कोयले के खदान में काम करता था और फिलहाल बेरोजगार था। लड़के का आत्मविश्वास इतना ज्ययादा कि वह जानता था कि पिता उसे जहाज देंगे और सचमुच लकड़ी के बेढब जहाज के रूप में उसके पिता क्रिसमस उपहार देते भी हैं। उसे डांटते रहने के बाद भी। ‘अल्बर्ट का क्वीन मेरी’ कला का अनगढ़ नमूना जप्फूर था लेकिन फिर भी इसमें कोई शक नहीं था कि उस नमूने में हथेलियों के पूरे दुलार के साथ कड़ी मशक्कत के घंटों खपाए गए थे। लकड़ी के इस कुंदे को जहाज की आकृति देने में ही जलते अलाव के सामने लकड़ी छीलते हुए न जाने कितनी रातें जगते हुए गुजषरी गई होंगी।’ (पृ. 238) कथा बालकों के मनोविज्ञान को बखूबी पकड़ती है।

‘विकराल डैनो वाला एक बहुत बूढ़ा आदमी’ जादुई यथार्थवाद के पुरोध्या मार्क्वज

की अद्भुत कहानी है। इस कहानी में एक तरफ उपभोक्तावादी संस्कृति अपने चरम पर है दूसरी तरफ मानवीय यंत्राणा का वीभत्स रूप दिखाई पड़ता है। जिस फरिश्ते से लाखों कमाते हैं उसी को असहाय छोड़ सब निश्चिंत हो जाते हैं। क्योंकि वह अब उनकी जिंदगी की जेहमत नहीं था।

हिब्रू कथा ‘दीक्षा’ इज़राइल के एतगार केरेत की लिखी है। जिसमें पिता अपने पुत्रा को चीजपें की कद्र करना सिखाता है। गुड्डा खरीदने के बजाय पिता उसे एक सुअर की आकृति की गुल्लक देते हैं, जिससे वह बच्चा इतना प्यार करने लगता है कि तोड़ने के बजाय उसे घड़ी में छिपा देता है।

स्पेनिश लेख ‘आज की शाम डिजनी वर्ल्ड के नाम’ जुआन विलेरो का है जिसमें वे खूबसूरत तरीके से उपभोक्तावादी संस्कृति का पर्दाफाश करते हैं। डिजनी वर्ल्ड उपभोक्तावाद का सबसे बड़ा प्रतीक है। यहां की लूट और लोगों को मूर्ख बनाने के खेल को बखूबी समझते हैं जुआन। अंग्रेजी में कहावत है कि एकाध व्यक्ति को हर बार बेवकूफ बनाया जा सकता है और हर व्यक्ति को हर बार बेवकूफ बनाया जा सकता है और हर व्यक्ति को एकाध बार बेवकूफ बनाना भी संभव है। लेकिन हर आदमी को हर बार बेवकूफ नहीं बनाया जा सकता है। प्रतिदिन किस्मत के मारे हजषणों लाखों सैलानियों द्वारा डिजनी वर्ल्ड की बदहवास यात्रा अंग्रेजी की इस स्थापित उक्ति को एक सिर से धता बताती लगती है।’ (पृ. 66)

सरबिया के लेखक इवान कलीमा का लेख ‘साहित्य और स्मृति’ लेखन की सही वजहों और उनके अस्तित्व से टकराते हुए उनकी विचार प्रतिभा को सामने लाता है। बेवजह लिखते जाने से बेहतर है न लिखना।

एक सच्ची साहित्यिक कृति सर्जक की पुरअसर चीख जो सर्जक, उसके पूर्वजों, उसके समकालीन और उसकी बोलचाल की भाषा के ऊपर मंडरा रहे विस्मृति के बादलों के प्रतिरोध में सर्जक के गले से फूटती है।’ (पृ. 89)

कादर अब्दुल्ला की कहानी ‘चीलें’ तानाशाही शासन की झलक दिखाती, डच भाषा की सुंदर प्रस्तुति है। आस्ट्रेलियाई कथा ‘चरवाहे की औरत’ स्त्री के साहस और जिजीविषा को रेखांकित करती है। यह परिवेश की भिन्नता के बावजूद पूरे विश्व की कथा लगती है। यह ऐसी औरत की कथा है जो अपने बच्चों के साथ अकेली है और अपने दुःखों पर हंसना



सीख रही है। “वह किसी भी ऐसे विशेष सुख को याद नहीं कर पाती जो उसे अपनी जिंदगी में नसीब हुआ हो। किस तरह वह झूठ बोलकर अपनी इज्जत बचाती है।” (पृ. 139) “संदेहास्पद दिखने वाला कोई भी अजनबी जब घर के मालिक के बारे में पूछता है तो वह उसे बताना नहीं भूलती कि उसका पति और बड़े दो लड़के नीचे बांध पर काम कर रहे हैं।” (पृ. 138) वह इतनी तटस्थ हो चुकी थी कि “जब उसका पति लौटता है तो उसे खुशी महसूस होती है लेकिन वह न इसका इज़हार करती है न भावातिरेक में डूबती है।” (पृ. 139)

फिलीस्तीन के लेखक नासिर इब्राहीम की कहानी ‘जूते’ एक अजीब तटस्थता से लिखी गई प्रतिरोध की कथा है जिसमें कमजोरों के प्रतिरोध को बड़ी सावधानी से रखा गया है। ‘निसार’ रामल्लाह जाने की जिद्द किए है और सिपाही उसे तमाम शर्तों में उलझाए हुए हैं। अंत में पहले उनके लिए चाय लाने फिर नंगे पांव जाने की शर्त पर जाने देते हैं। लौटने पर उसे पता चलता है कि सिपाही ने उसके जूते में पेशाब कर दिया है। नासिर ने जो कहा वह तिलमिला देने के लिए पर्याप्त है। “एक आखिरी बात बताना चाहता हूँ। हमारे बीच की लड़ाई तब तक खत्म नहीं हो सकती जब तक तुम हमारे जूतों में और हम तुम्हारी चाय में मूतना बंद नहीं करेंगे। समझे? और यह कह चुकने के बाद वह तेजसे से मुझ और नंगे पांव दौड़ता हुआ सामने फैली भीड़ में विलीन हो गया।” (पृ. 159)

चीन के ‘मो यान’ अपने वक्तव्य में (मेरी दो नेमतें भूख और अकेलापन) कहते हैं—“भूख की वजह से मैं गली के कुत्ते की तरह अपमानित हुआ और आखिरकार भूख ने ही मुझे भयानक प्रतिशोध की भावना के साथ रचनात्मक लेखन का रास्ता दिखाया।” अपनी कहानी ‘मजबूत की भी हद होती है शिफ़’ में वे दिखाते हैं उपभोक्तावादी संस्कृति कैसे एक समझदार एवं नैतिक बूढ़े को जोड़ों को मिलन स्थल मुहैया कराने वाला बना देती है। उसका शागिर्द कहता है—“तुम नौकरी से निकाले गए एक बेरोजगार कामगार हो। तुम्हें काहे की शरम...पेट और नाक के बीच मुकाबले में जीत हमेशा पेट की ही होती है।” (पृ. 261) स्पेनिश कथा ‘दो शब्द’ तथा ‘जिस मिट्टी के बने हैं हम’ इसाबेल अलेर की इन कहानियों को पढ़कर ऐसा लगता है कि सचमुच साहित्य किसी सरहद को नहीं मानता है। और सारी

सरहदों के बाद मनुष्य एक है। संपूर्ण विश्व को एक स्थान पर एकत्र करने व उनका हिंदी भाषा में अनुवाद करने के साथ-साथ महत्वपूर्ण टिप्पणियों के लिए जितेन्द्र भाटिया की प्रशंसा करनी होगी। कहना न होगा, उनके द्वारा अनूदित प्रस्तुत कहानियाँ/लेख अपनी उत्कृष्टता के कारण बेहद पठनीय हैं।

नदी का तीसरा किनारा / जिस मिट्टी के बने हैं हम / अनुवाद—जितेन्द्र भाटिया / संभावना प्रकाशन, रेवती कुंज, हापुड़—245101 / प्रत्येक पुस्तक का मूल्य : 395.00 रुपये

वरिष्ठ प्रवक्ता, हिंदी, जी.डी.बिनानी पी.जी. कॉलेज, निर्जापुर—231001 (उ.प्र.) मो. 9415876779

प्रथम सीता स्मृति सम्मान कवि दिनेश कुमार शुक्ल को



स्वर्गीय डॉ. सीता श्रीवास्तवजी एक प्रख्यात शिक्षाविद् और राजनीतिशास्त्रा की विद्वान थीं। वह दिल्ली विश्वविद्यालय से संबद्ध मैत्रोयी कॉलेज की 15 वर्ष से ज्यादा समय तक प्रधानाचार्य रहीं। वह वॉशिंगटन डी. सी. स्थित अमेरिकन युनिवर्सिटी में वरिष्ठ फूलब्राइट स्कॉलर और लिंगबर्ग के रांडोल्फ मेकन वीमेन कॉलेज में विजिटिंग प्रोफेसर भी थीं। इससे पहले वह बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में राजनीतिशास्त्रा पढ़ाती थीं और वहाँ के महिला महाविद्यालय में राजनीतिशास्त्रा की विभागाध्यक्ष थीं। एक सच्चा राष्ट्रवादी कार्यकर्ता होने के नाते उन्होंने

अपने छात्रा जीवन में ही लखनऊ में रहते हुए आजादी के आंदोलन में हिस्सा लिया और जेल गईं। उनका शोध राज्यसभा पर था जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुआ और काफी लोकप्रिय हुआ। उन्होंने दिल्ली की झुगियों में रहने वाली गरीब महिलाओं के आर्थिक सशक्तीकरण और बेहतरी के लिए पेशेवर प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों के माध्यम से कई विकास कार्यक्रम आयोजित किए।

वह एक कवयित्री भी थीं और हिंदी साहित्य से उनका गहरा जुड़ाव था। मैत्रोयी कॉलेज के प्रधानाचार्य के पद से सेवानिवृत्त होने के बाद उन्होंने हिंदी गद्य और कविता दोनों में गंभीर लेखन किया। उनकी 23 पुस्तकें प्रकाशित हैं, जिनमें गंभीर और प्रासंगिक विषयों पर कई कविता संग्रह भी शामिल हैं। उन्होंने लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय और लोकनायक जयप्रकाश नारायण की जीवनी भी लिखी। उन्हें कई पुस्तकों के लिए पुरस्कार और प्रशस्ति मिले। अपनी कविताओं के माध्यम से उन्होंने कुछ बहुत महत्वपूर्ण प्रासंगिक मसलों पर सहज लेकिन प्रभावशाली तरीके से अपनी भावनाओं, जीवनानुभवों और विचारों को अभिव्यक्त किया था।

हिंदी लेखन के प्रति उनके लगाव और उनकी स्मृति के सम्मान में स्वर्गीय डॉ. सीता श्रीवास्तव के परिवार ने हिंदी लेखन के लिए एक सालाना पुरस्कार की घोषणा की है। प्रशस्ति पत्रा और 51,000/- रुपये का यह सम्मान किसी भी हिंदी लेखक को गद्य या कविता के लिए दिया जाएगा। पुरस्कार के लिए प्रमुख हिंदी अखबारों और पत्रिकाओं में विज्ञापन देकर प्रविष्टियाँ आमंत्रित की गई थीं। हिंदी के लेखकों/ प्रकाशकों की ओर से 77 प्रविष्टियाँ आईं। वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह और कथाकार श्रीमती ममता कालिया के एक प्रतिष्ठित निर्णायक मंडल ने 2009-10 के सीता स्मृति पुरस्कार विजेता का चयन करने के लिए एक विस्तृत प्रक्रिया अपनाई। कई दौर की परिचर्चा एवं व्यापक कसौटियों पर प्रविष्टियों के सतर्क मूल्यांकन, परीक्षण तथा छँटनी के बाद प्रतिष्ठित निर्णायक मंडल ने श्री दिनेश कुमार शुक्ल के काव्य-संग्रह ‘ललमुनियाँ की दुनिया’ को प्रथम सीता-स्मृति सम्मान के लिए चुना है।

श्री दिनेश कुमार शुक्ल जाने-माने समकालीन हिंदी कवि हैं। इनकी कविताएँ और आलेख तकरीबन सभी प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिकाओं और पत्रों में प्रकाशित हुए हैं। इनकी अद्भुत शैली ने समकालीन कविता के साहित्यिक मानकों से समझौता किए बगैर कविता को जन के और करीब लाने का काम किया है। नए काव्यात्मक उपकरणों के साथ पारंपरिक साहित्यिक व लोक रूपों के प्रयोग ने इनकी कविताओं को एक नई धार दी है। इन्हें यह पुरस्कार नई दिल्ली में 2010 के अंत में दिया जाएगा।

कटु और खुरदुरे जीवन की कठोर सच्चाइयां

अभिषेक दुबे

यु

वा कथाकार रणेन्द्र अपने उपन्यास 'ग्लोबल गांव के देवता' से हिंदी जगत में अपनी पहचान बना चुके हैं। इनके सद्यः प्रकाशित कहानी संग्रह 'रात बाकी एवं अन्य कहानियां' में सात कहानियां शामिल हैं। इन कहानियों में कथाकार का यथार्थबोध जीवन की वास्तविकताओं से विकसित होता है। समय का जटिल यथार्थ अपने नग्न रूप में इन कहानियों में विन्यस्त है। कहीं-कहीं कहानी में उपन्यास शिल्प की झलक मिलती है। उत्तर आधुनिकता का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व जादुई यथार्थवाद इन कहानियों के केंद्र में झलक उठता है। रणेन्द्र की कहानियों में प्रकृति, संस्कृति एवं मिथक के साथ-साथ प्रेम और अंतरंगता का समायोजन भी दृष्टिगत होता है। कथाकार की भाषा में बिंबात्मकता के साथ-साथ काव्योन्मुखता भी दिखाई देती है। ये कहानियां हाशिए पर पड़े लोगों की जीवन-कथा का रूपक रचती हैं। आदिवासियों की समस्याएं वैचारिक ढंग से इन कहानियों में उभरी हैं, कहानियों में आए पात्रा कई जगह बेबस और विफल हैं, उनके इस दुखांत का कारण व्यवस्था निखरत है। यह व्यवस्था आख्यक, प्रशासनिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं धारमक सभी क्षेत्रों की विद्रूपताओं को अपने में समेटे है।

पहली ही कहानी 'रात बाकी' संबद्ध है, बांध बनाने के दौरान विस्थापित दलित आदिवासियों के भरपाई स्वरूप जमीन देने से। इस कहानी में दलित जागृति की झलक स्पष्ट दिखती है। "दर्जनों दलित लड़कियों की देह नोचने वाला आज बुरी तरह फंस गया था। तीनों लड़कियों को भी जल्दी थी। एक पत्थर उसके पोथे के नीचे रखा दूसरे

पत्थर से कुचल दिया और जंगल में उतर गई। रणवीर कटते सूअर की तरह गोंगियाता रह गया।" (पृ. 11) राजनीति के साथ प्रशासन के गठजोड़ से हुए नरसंहार की त्रासदी पूरी कहानी में अंतर्व्याप्त है। कम्युनिस्ट एवं नक्सली आंदोलन भी प्रशासनिक अधिकारियों एवं नेताओं के झूठे आश्वासन में आकर अपनी गति को मंद करता है। परिणामस्वरूप आदिवासियों की अपनी जमीन तो जाती ही है, साथ ही पुनर्वास भी सफल नहीं हो पाता, उनके हिस्से में मौत या दमनात्मक कार्यवाहियां ही नसीब होती हैं।

सोमा कुजूर को कथानायिका बना अपने संग्रह की दूसरी कहानी 'वह बस धूल थी' में रणेन्द्र, भारत के राष्ट्रीय खेल हॉकी से शुरुआत करते हैं। इस कहानी में भी नक्सली हिंसा का दृश्य बना हुआ है। सोमा का सोमनाथ से विवाह, मृत्यु एवं स्वयं सोमा की मृत्यु सब

मिलाकर आदिवासी जीवन की त्रासदी का चित्रण है। आदिवासी समुदाय के ही लोग बड़े पदों पर पहुंचकर अपनी ही जाति के लिए विशिष्ट जंतु बन जाते हैं। इसका उदाहरण बाघवतार अनिल लकड़ा के चरित्र में देखा जा सकता है। सोमा के सास-ससुर तक अपने पुत्र की मृत्यु के बाद उससे मुंह मोड़ लेते हैं। आदिवासियों के विवाह पद्धति को कानूनी वैधता नहीं है। अतएव सोमनाथ की नौकरी भी उसकी पत्नी सोमा को न मिल, उसके छोटे भाई को मिलती है। कहानी का अंत रणेन्द्र के सफल किस्सागो होने को सिद्ध करता है। "सोमा कुजूर... एक आदिवासी स्त्री... एक संस्कृति... एक आदिम सभ्यता... खत्म हो गई... जैसे... रेड इंडियंस... जैसे डोडो पंछी... जैसे एक नदी।" (पृ. 46) लोक-कथनीयता एवं मिथकों की छौंक से राजनीतिक गलियारों में बजबजाती प्रशासनिक रणनीतियों के बंदरबांट को यह कहानी पूरी वीभत्सता में उकेर देती है।

संग्रह की तीसरी कहानी 'रफीक भाई को समझाइए' रेखाचित्रा शैली में लिखी गई है। इस कहानी में रफीक नामक ऐसे शख्स का दर्द भरा बयान है, जो बचपन में अम्मी और बहिन के दंगे में लापता हो जाने से शुरु हुआ है। चैन स्मोकिंग की लत एवं पैरों की लड़खड़ाहट के साथ रफीक भाई अल्पसंख्यक समुदाय की असुरक्षा की भावना के पैरोकार बनकर कहानी में खड़े हैं। प्रेमिका में भी दंगों के समय बिछुड़ी मां की छवि देखना या अबू एवं चचाजान के खस्ताहाल का बयान करना रफीक में शोकग्रस्त चरित्र बनकर उभरा है। फिर भी प्रेमिका तबस्सुम के मोबाइल का कॉल आना, कहानी के अंत को सुखांत कर देता है।



चौथी कहानी 'चंपा गाछ, अजगर और तालियां' में 'पोटा' कानून के तहत निर्दोषों को जेल में डाल देने की दारुण कथा का आख्यान वखणत है। जहां दिल्ली में बुद्धिजीवी मात्रा पोटा कानून की ज्यादतियों पर बौद्धिक विमर्श में लगे दिखाई देते हैं, वहीं छोटे से आदिवासी गांव में रवीन्द्र बागे एवं रामेश्वर जैसे युवकों को माओवादी, नक्सली घोषित कर फर्जी इनकाउंटर में मरा दिखाया जाता है। मुख्य कहानी रवीन्द्र की बहन सरस्वती की है, जिसे दुर्दांत लेडी नक्सलाइट घोषित कर पहले लाठी सिंह दारोगा और बाद में जेलर गुप्ता दुर्दांत ढंग से बलात्कार करते हैं। पोटा कानून हटने पर सरस्वती की रिहाई के बाद, वह जिंदा लाश ही बचती है। उसके आज की गुहार पर भी उसके साथ सरकारी तंत्रा या बुद्धिजीवियों द्वारा न्याय नहीं मिलता है। पुलिसिया तंत्रा की खौफनाक तसवीर इस कहानी में रणेन्द्र ने उकेरी है, जहां अमानवीयता की पराकाष्ठा दिखाई देती है। संग्रह की सर्वाधिक पठनीय कहानी यही है।

'बारिश में भीगती गौरैया' पांचवीं कहानी है। इसमें मां, बेटी (साधना) एवं उन औरतों, लड़कियों की कहानियां हैं, जिनके घर वाले उनके कुछ भी करने पर 'ना', 'नहीं' का एकमात्रा उत्तर देते हैं। स्त्री बंदिशों की दारुण गाथा के रूप में टी.बी. मरीज बीड़ी वर्करों की त्रासदी कहानी में कही गई है। अंत में बुलबुल का जहर खाना, उस पर साधना का उसकी मदद न कर पाने की स्थिति को, कथाकार पाठकों के ऊपर छोड़ता है। कथाकार का मुख्य सवाल यह है कि क्या स्त्रियों की आजादी पुरुषों या अन्य पर ही निर्भर करे? क्या उसकी स्वतंत्रा सोच नहीं है?

छठी कहानी है 'जल रहे हैं हरसिंगार'। यह दारोगा बाबू रंजीत सिंह की कहानी है, पैसा-वसूली के चक्कर में पुलिया पर खाट पे सोते हुए बूढ़े मल्लाह से दो लात उनको पड़ती है। जागकर मल्लाह की कुटाई करते हैं एवं इस घटना को किसी से न बताने की हिदायत देते हैं। मुख्य कथ्य यह है कि ऊपरी आमदनी के कारण रंजीत बाबू यौन मनोविकृत हो चुके हैं। उनका पैसों से भरा ट्रक कभी विश्वसुंदरी में बदलता है, कभी अन्य इच्छित वस्तुओं में। यह कहानी वाकई रोचक एवं पठनीय है। आई.ए.एस. न बन

पाने की हताशा, कुंठा, बेबसी भी रंजीत बाबू के मनोरोग का एक कारण है। जटिल प्रतियोगी परीक्षाओं की दुःखद चरम परिणति प्रायः ऐसी ही होती है।

अंतिम कहानी है 'ठीक बा नू, सायराबानू'। इस कहानी में श्यामकिशोर सिंह यादव नामक एक ऐसे युवक की कहानी है, जो एथलीट एवं शरीर सौष्ठव प्रतियोगिताओं में अपनी ख्याति अखजत करते हुए राजनीतिक गलियारों की सीढ़ियां चढ़ जाता है। मुख्यमंत्री बन जाने पर उसके सारे सिद्धांत लंपटपन में तब्दील हो जाते हैं। अपनी प्रेमिका पद्मजा से प्रेम में मिली असफलता को छिछोरी हरकत से दूर करने का प्रयास करता है 'पर उन्होंने बच्चे को थामने की बजाय पद्मजा की छातियों को पकड़ लिया।' (पृ. 135) प्रेमकथा को दृष्टिगत करती हुई इस कहानी में श्याम सिंह यादव के अलावा कथावाचक राजन की भी असफल प्रेम कहानी का वर्णन है। आरक्षण

से उपजी त्रासदी, राजनेताओं का दूषित चरित्रा कथ्य के रूप में वखणत हुआ है।

संग्रह की अधिकांश कहानियों में जीवन की मधुरता नहीं तिक्तता की अनुभूति व्यक्त हुई है। जीवन में व्याप्त सत्य भी सरल न होकर कठिन एवं जटिल है। कथाकार का भाषा शिल्प सशक्त है, पर कहीं-कहीं कथ्य बोझिल वर्णनात्मकता में फंसा दिखता है। रणेन्द्र के इस संग्रह को उन पाठकों को जरूर पढ़ना चाहिए, जो जमीनी सच्चाइयों में यकीन करते हैं। बदलती आबोहवा की गर्माहट को इस संग्रह की कहानियों में महसूस किया जा सकता है।

रात बाकी एवं अन्य कहानियां / रणेन्द्र / राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 / मूल्य : 200.00

1067 / 814 / 3 विश्वविद्यालय मार्ग, पुराना कटरा, इलाहाबाद-211002, मो. 9453493190

अपील

हिंदी की साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्राकारिता का लगभग 150 वर्ष का स्वर्णिम इतिहास है जिसमें सरस्वती, माधुरी, हंस, चांद तथा कहानी जैसी अनेक पत्रिकाओं ने हिंदी की रचनाशीलता को समृद्ध किया है। लघु पत्रिकाओं के माध्यम से यह क्रम आज भी चल रहा है। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के सभी अंक तथा अनेक लघु पत्रिकाओं के प्रवेशांकों का एक संग्रहालय स्थापित किया गया है। संग्रहालय में पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के कम ही अंक उपलब्ध हो पाएँ हैं। हम सभी लेखकों, साहित्यप्रेमियों से अपील करते हैं कि पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के सभी अंक संग्रहालय को उपलब्ध कराने में हमारी मदद करें ताकि पत्रा-पत्रिकाओं के माध्यम से हिंदी साहित्य के विविध आयामों को शोधार्थियों के लिए उपलब्ध कराया जा सके।

संग्रहालय में रचनाओं की हस्तलिखित पांडुलिपियों, लेखकों का आपसी पत्रा व्यवहार, लेखकों-पाठकों के बीच पत्रा व्यवहार तथा चित्रा आदि को भी संग्रहीत किया जा रहा है। सभी लेखकों, सुधी पाठकों से अपील है कि इस सामग्री को हमें उपलब्ध कराने में हमारी मदद करें।

विभूति नारायण राय
कुलपति

कविता

कविताओं के विविध रंग

विवेक सत्यांशु

अ

रस्तू ने कहा है "काव्य का लक्ष्य एक उच्चस्तरीय आनंद प्रदान करना है।" किंतु आज के समय में जिस तरह से काव्य का सृजन हो रहा है, उससे कविता की काव्यात्मकता भी नष्ट हो रही है और आनंद की उच्चता का भी क्षरण हो रहा है। आज ज्यादातर कवि खराब कविता लिख रहे हैं, और उसे अच्छी कविता की तरह प्रचारित कर रहे हैं, ऐसे लोग 'कुकवि' कहलाते हैं। भामह ने लिखा है "कविता नहीं करने से न तो अधर्म होता है, न रोग, न दंड। किंतु कु-कविता तो साक्षात् मरण है।"

समकालीन कविता के सशक्त हस्ताक्षर अग्निशेखर कविता के 'मैनरिज्म' को तोड़ते हैं और हमें एक नए अनुभव-लोक की संवेदना से साक्षात्कार कराते हैं। 'जवाहर टनल' अग्निशेखर का नवीनतम संग्रह है। इन कविताओं में अपने घोंसलों और वनों से विस्थापित कर दिए गए पक्षियों की वेदना, उनकी चीख अपनी समग्र चेतना के साथ उपस्थित है। यह विस्थापित आहत चेतना अपनी व्याकुलता और भावावेग में भी अपने मौलिक-अधिकार के लिए, अपने को फिर से स्थापित करने के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

कवि उस पीड़ा को समवेत स्वर में कह रहा है।

"यह मानवाधिकारों के दिन थे/और हमारे नहीं थे मानवाधिकार/चुप थी भेड़ें/और यही था सद्भाव/कसाईबाड़े का"

हमारे देश को बार-बार 'मेरा देश महान था' प्रचारित किया जाता है। कवि इस पर व्यंग्य करता है, प्रश्नचिह्न लगाता है।

तेजाब था/लू थी/सांप थे/बिच्छू थे/रोग थे/श्मशान था/ओढ़ने को आसमान था/सोने को हिंदुस्तान था/मेरा देश महान था।

कवि नए यथार्थ को पूरी संवेदना और जीवंतता के साथ नए आयाम देता है। बांग्ला लेखिका तस्लीमा नसरीन भी विस्थापित हैं, और भटक रही हैं। अग्निशेखर ने तस्लीमा की पीड़ा को समझा ही नहीं, अनुभव भी किया है। इस संग्रह में तस्लीमा नसरीन पर पांच कविताएं हैं। कवि उनकी संवेदना को महसूस करता है।

"उठाए उसने अभिव्यक्ति के खतरे/
उठाया हमने सिर पर आकाश/उधेड़ी
उसने सीवन/सी लिए हमने होंठ/
उसने कहा, लज्जा! /हमने कहा
खास नहीं/ उसने मांगी शरण/हमने
दी/कोठरी/वह बुदबुदाती रही/



कोलकाता/कोलकाता"

कवि आगे लिखता है।

पूछने की हिम्मत/भी नहीं होती/अब कहां हो/कैसी हो?

तस्लीमा के दर्द को कवि ने गहराई से महसूस किया है।

उदय प्रकाश ने अग्निशेखर की कविताओं पर बहुत सही टिप्पणी की है "विस्मरण के विरुद्ध अनथक संघर्ष करती कविताएं हिंदी ही नहीं, समूची भारतीय कविता का सबसे अलग, मौलिक और प्रामाणिक अल्पसंख्यक स्वर है।"

अग्निशेखर की कविताओं में लोक-जीवन का बड़ा प्रामाणिक चित्रण मिलता है। कश्मीर के लोक-भवन गांव की लोक-स्मृति में रची-बसी एक गूंगी स्त्री की वेदना देखें।

"कहते हैं गूंगी थी वह/लेकिन चिड़ियों से करती थी बातें/कहते हैं बहरी थी/परंतु पेड़ झुककर सुनाते उसे/फरियाद/लोग उसकी फटी झोली पर/खाते तरस/कहते हैं तारामंडल उतरता/रात को उसमें"

लोक-जीवन का प्रामाणिक यथार्थ पूरी संवेदना के साथ अग्निशेखर की कविताओं में मुखरित हुआ है।

आज के निर्मम समय के संक्रमण-काल में सबसे अधिक पतन मूल्यों का हुआ। खासतौर से मानवीय मूल्यबोध : जो किसी सभ्य मानवीय समाज के आधारशिला होते हैं। किंतु पूंजीवाद का चरित्र ही मनुष्य को अमानवीय बनाने और संवेदनशून्य बनाए रखने की होती है, जिसकी चर्चा जार्ज आरवेल ने अपनी किताब '1984' में विस्तार से की है। विश्व महिला-दिवस' के सौ वर्ष पूरे होने के बावजूद महिलाओं पर अत्याचार के ग्राफ बढ़े हैं। साहित्य जगत



में आज महिलाओं को सिर्फ 'स्त्री-विमर्श' तक सीमित रखा गया है। जबकि महादेवी वर्मा ने 1934 में 'चांद' पत्रिका का 'नारी-चेतना' विशेषांक निकाला था, और 1935 में 'कवयित्री-सम्मेलन' करवाया था। किंतु अकविता के कवियों ने औरत को 'देह' से ज्यादा कुछ नहीं माना है। धूमिल जैसे चखचत कवि ने भी औरत को 'देह' से ज्यादा कुछ नहीं माना है। धूमिल ने तो स्त्री के पुरुषार्थ को चुनौती देते हुए उसकी अस्मिता पर ही प्रश्नचिह्न लगाया है, जिसका कई स्त्री संगठनों ने विरोध भी किया था, धूमिल की यह कविता देखें।

"हरेक का दरवाजा खटखटाया है/ मगर बेकार...मैंने जिसकी/ पूंछ उठाई है/ उसको मादा पाया है"

किंतु अग्निशेखर स्त्री के मुद्दे को बड़े संवेदनशील ढंग से अपनी कविता में उठाते हैं। वह कहते हैं।

"क्या फर्क पड़ता है/ ओ मेरे प्रिय कवि/ स्त्री मेरे पड़ोस में पिटै/ या रूस में/ वह पिट रही है/ जरूरी समर्थन के अभाव में/ एक विधेयक की तरह"

अंत में हम कह सकते हैं अग्निशेखर का प्रस्तुत कविता संग्रह 'जवाहर टनल' सिर्फ विस्थापित होने की पीड़ा की कविताएं मात्रा नहीं हैं, इस संग्रह में विविध रंग की कविताएं भी हैं, जो इस संग्रह की सबसे सार्थक सर्जनात्मक और सराहनीय उपलब्धि हैं। यह संग्रह जवाहर टनल के सुरंग के अंधेरे में फंसती नहीं, उसके बाहर की दुनिया के आलोक से भी साक्षात्कार करता है।

जवाहर टनल / अग्निशेखर / मेधा बुक्स / एक्स-10, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 / मूल्य : 150.00

14 / 12 शिवनगर कॉलोनी, अल्लापुर, इलाहाबाद-211006

कविता

समय का सच

हितेश कुमार सिंह

आ

ज के भूमंडलीकरण, आख्यक उदारीकरण तथा बाजारवाद के दौर में जब कविता मनुष्यता से रहित, संवेदन शून्य और संकुचित होती जा रही है तब कवि रविशंकर पांडेय द्वारा कविता के सरोकार को जीवन से जोड़ना गौर करने लायक है।

रविशंकर पांडेय ने अपने पहले कविता संग्रह 'अंधड़ में दूब' से लेकर दूसरे संग्रह 'इस आखेटक समय में' तक सार्थक काव्य यात्रा तय की है जिसमें उनके अनुभव, उनकी संवेदना और उनके सपने पहले से काफी परिपक्व हुए हैं।

प्रस्तुत संग्रह की कविताओं में, जोकि 'नवगीत' विधा में रचे गए हैं, लोकजीवन और लोक परिवेश अपनी पूरी ऊर्जा, सौंदर्य, संघर्ष

तथा विसंगतियों के साथ उपस्थित है। इस संदर्भ में चखचत साहित्यकार विभूति नारायण राय का यह कहना। "रविशंकर पांडेय शास्त्रीय काव्यानुशासन से लैस लोक के कवि हैं। महत्त्वपूर्ण हैं।"

रविशंकर पांडेय इसके पहले नवगीत 'फौलाद सा ढलें' में कड़ी मेहनत करने पर बल देते हैं। नियति से टकराते अपने समय की चुनौतियों से जूझने को प्रेरित करते हैं।

बहुत हुआ

अब तक यह

किस्मत का रोना

मेहनत से करना है

मिट्टी को सोना।

उनकी कविताएं अब शेष सामंती एवं पूंजीवादी मूल्यों के विरुद्ध सीना ताने खड़ी होती रहने के कारण साहस, धैर्य एवं दृढ़ता को अपना चरित्र बनाती हैं। सामंतों, शोषकों तथा पूंजीवादियों का अंतिम परिणाम क्या होता है, उनकी कविताओं में स्पष्टतया दिखाई देता है।

झोपड़ों के बीच

जो तनकर खड़ा था

दुर्ग का वह

आज गुम्बद ढह रहा है।

(समय कुछ कह रहा है)

उपर्युक्त काव्यसंग्रह की कविताएं अपने समय के संकटों से समाज को रूबरू कराती हैं। किसी भी राजनीतिक पद हेतु शिक्षित होना आवश्यक नहीं है। यह कैसा लोकतंत्रा है कि एक अनपढ़ एवं अशिक्षित व्यक्ति भारत का राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री, राज्यपाल आदि अनेक पदों को सुशोभित कर सकता है किंतु वहीं अनपढ़ एवं अशिक्षित व्यक्ति भारत के किसी भी विभाग में चतुर्थ श्रेणी (चपरासी)



का कर्मचारी तक नहीं बन सकता। कोई संवेदनशील कवि ही भारत की इस समस्या के बारे में सोच सकता है।

बिना पढ़े
दुनिया बचें वे
झंडा नभ में गाड़ें
हम तो सिर्फ
मदरसों में ही
रटते रहे पहाड़े।

(हम बैठे पिछवाड़े)

झूठ बोलना, झूठे वादे करना आज की राजनीति की विशेषता हो चुकी है। आज के राजनीतिज्ञ को सफलता प्राप्त करने के लिए कितना भी झूठ बोलना पड़े, उसे तनिक भी हिचक नहीं होती किंतु जब वादा पूरा करने का समय आता है तो वे आना-कानी करना शुरू कर देते हैं। इस संग्रह की कविता इस सच को बयान करने में सक्षम दिखाई देती है।

झूठे वादे
बात-बात पर
चने चबेने हैं
बगलें लगे झांकने
जिनको
उत्तर देने हैं।

(प्रश्नों का बोझ)

‘इस आखेटक समय में कविता-संग्रह को पढ़कर लगता है कि कवि ने गांव को जिया है। गांव की स्थिति एवं उसकी समस्याओं का जीवंत दस्तावेज इस संग्रह की कविताओं में देखने को मिलता है।

खेतों खलिहानों की
सारी रंगत
गायब है
नई पौध को
गांव लगे अब
बहुत अजायब है।

(जिंदगी उधारों की)

गांव के मेलों, त्योहारों को भूमंडलीकरण का राक्षस जिस प्रकार से दिन-प्रतिदिन निगलता जा रहा है उसका एक रूप देखिए।
तीज और त्योहारों के रंग
लगते फीके हैं
अतिथि आज जंजाल लग रहे



अपने जी के हैं

(खुशहाली कहां गई)

‘किस्से गढ़ते लोग’ कविता पढ़कर लगता है कि कवि संवेदना से परिपूर्ण है। यह संवेदना ही किसी कवि की संपूर्णता का मार्ग प्रशस्त करती है।

लाशों पर चढ़कर

संसद की सीढ़ी चढ़ते लोग।

ठीक यही संवेदना ‘नागार्जुन’ एवं ‘दिनकर’ की कविताओं में भी दिखाई देती है।

पूँछ उठाकर नाच रहे हैं
लोकसभाई मोर।”

नागार्जुन

x x x

“जितने हरामजादे थे सरकार हो गये
टोपी पहन-पहनकर नम्बरदार हो गये।”

दिनकर

इस काव्य-संग्रह की भूमिका में कवि स्वप्निल श्रीवास्तव ने लिखा है। “रविशंकर पांडेय हिंदी के प्रगतिशील कवि केदारनाथ अग्रवाल की धरती के कवि हैं।” जो ठीक ही है। रविशंकर पांडेय को पढ़ते हुए लगता है कि हम केदारनाथ अग्रवाल को पढ़ रहे हैं। इस संग्रह की अधिकांश कविताएं केदार की कविताओं के समानांतर चलती हुई दिखाई देती हैं। जो संवेदना, किसानों की लाचारी, श्रमिकों का शोषण, मानवमूल्यों का []स तथा

भ्रष्ट शासन व्यवस्था के प्रति तीव्र विरोध केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में है, वही आवाज़, वही भाव रविशंकर पांडेय की कविताओं में भी है।

बंद है वह
जंग खाई आलमारी
कैद होकर रह गई
किस्मत हमारी।

‘इस आखेटक समय में’ की भाषा देशज एवं आम बोलचाल की है जो सामान्य पाठक के मस्तिष्क को ग्रहण करने वाली है। भाषा की देशजता नागार्जुन एवं केदारनाथ अग्रवाल की भाषा की भांति अपनी प्रौढ़ावस्था में दिखाई देती है।

“चिरई चुंगुन फूल छपे हैं
लिपी पुती दीवाल पर

भौजी के हाथों उतरा है

ताजमहल चौपाल पर।”

(ताजमहल चौपाल पर)

इस संग्रह के नवगीत आज के कटु यथार्थ तथा सामान्य जन के जीवन की कठिनाइयों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने में सक्षम हैं। ‘रामदीन खटता है’ कविता लिखकर जहां कवि ने हिंदी पट्टी के किसानों की दयनीय स्थिति तथा उनकी समस्याओं को उजागर किया है वहीं ‘मंगल शहनाई हो’ और ‘तुम्हें देखकर’ जैसी प्रेम कविता द्वारा माहौल को खुशनुमा बनाने का प्रयास भी किया है।

इस संग्रह की कविताओं को पढ़कर लगता है कि इसका कवि वर्तमान समय की समस्याओं को व्यापक फलक पर उठाना चाहता है और उनको यथासंभव हल करने तथा समाज में बदलाव लाने के लिए प्रयासरत है। इस संग्रह की जो बात सर्वाधिक आकृष्ट करने वाली है, वह है। “भ्रष्ट एवं निकम्मी व्यवस्था के प्रति कवि का तीव्र एवं व्यंग्यात्मक विरोध।”

इस आखेटक समय में/ रविशंकर पांडेय/ अनामिका प्रकाशन, 52, तुलाराम बाग, इलाहाबाद, मूल्य : 250.00

मार्फत डॉ. घनश्याम सिंह 1144, भरद्वाजपुरम् (नजदीक ई.डब्लू.एस.) अल्लापुर, इलाहाबाद (उ.प्र.) मो. 09452790210

नूरानी बाग में कविता के फूल

रूपलाल बेदिया

‘नू

रानी बाग’ युवा कवि राजकिशोर राजन का ‘बस क्षण भर के लिए’ के बाद दूसरा संग्रह है। ‘नूरानी बाग’ में हरा-भरा दृश्य हो या न हो, पर इसमें भिन्न-भिन्न

रूप, रस, गंध के काव्य-पुष्पों की सुगंध अवश्य फैली हुई है। अलग-अलग भावबोध और मूल्यों को लेकर लिखी गई इन 92 कविताओं को पढ़ते हुए कई तरह की अनुभूतियां होती हैं। कभी मन-मयूर प्रसन्नचित हो उठता है, कभी चिंतन के गहरे तल में उतरने पर मजबूर होना पड़ता है तो कभी हृदय समय-समाज की विडंबनाओं एवं विद्रूपताओं से द्रवित हो उठता है। परंतु समय को संपूर्णता में समझ पाना और उसे व्यक्त कर पाना शायद किसी के लिए आसान नहीं। कवि के लिए भी शायद उतना ही कठिन प्रतीत होता है। तभी वह संग्रह की पहली कविता ‘अभी, जबकि लिख रहा हूँ कविता’ में कहता है□

“कठिन बहुत है लिखना पूरी बात/ जो एक बार लिखकर देखूँ आंख पसार/ और हो जाऊँ धुआँ-सा सफेद, निरभ्र/ बादलों के बीच हवा में तैरता एक खंड/ और तैरता रहूँ, तैरता रहूँ जब तक कि/ पहुंच न जाऊँ पृथ्वी के आखिरी छोर पर और/ प्रसन्न हो जाऊँ मन ही मन कि अच्छा हुआ/ छंट गया मैं अपनी उस बदकिस्मत दुनिया से”

वैसे तो कहा जाता है कि अपनी अभिव्यक्ति के लिए कविता से अच्छा साधन कोई नहीं। लेकिन अपनी खुद की अभिव्यक्ति की भी अपनी सीमाएं होती हैं। वस्तुतः एक कवि या लेखक किसी दूसरे की बात जितनी बेबाकी से लिख सकता है, कह सकता है, अपनी बात को उसी बेबाकी से नहीं कह

पाता है। इस बात को कवि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है□

“...पता है मुझे/ अगर मैंने लिख दी अपनी कथा/ तो शायद ही लिख पाऊँ/ अपनी डायरी में कोई अगली कविता...”

आज समय कुछ इस कदर बदल गया है कि किसी पर भरोसा करना कठिन ही नहीं, कभी-कभी खतरनाक भी हो उठता है। इसकी अनुभूति राजकिशोर राजन को भी बखूबी है। इसीलिए उन्होंने कहा है□

“...क्योंकि इस समय में दोस्ती से ज्यादा/ दूसरा नहीं है कोई, कुटिल शब्द...”

इन्हीं भावों को उन्होंने ‘छल’ कविता में भी व्यक्त किया है□

“अब...समझ में आ रही है बात/ कि ठीक ही कहते थे/ मेरे गांव के पुराने लोग/ कि कोई अपना ही, अपने से/ करता है छल।”

‘नूरानी बाग’ कविता जिस पर इस संग्रह का भी नाम है, किसी मनमोहक दृश्य उपस्थित करते बाग-बगीचों या प्राकृतिक

सौंदर्यबोध पर नहीं लिखी गई है। यों कह सकते हैं कि इसमें इनका नितांत अभाव है। कवि खुद ही कहता है□

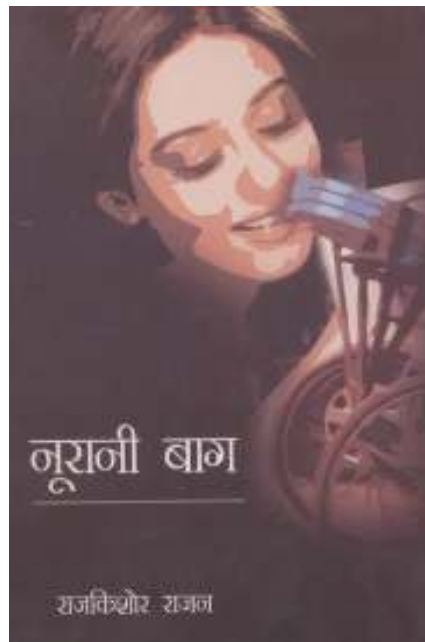
“...उस इलाके में मुझे न बाग मिला था,/ न पानी का फव्वारा/ और न ही कोई गुलमोहर का पेड़/ यहां तक कि छतों के ऊपर भी खिले नहीं थे/ किसी गमले में लाल-पीले फूल/ कोई बरगद भी नहीं छतनार जिसके नीचे/ विश्राम करे पथिक कुछ देर पैर पसार...”

लेकिन इस बात की पूरी संभावना है कि उस इलाके में इस नाम का कोई बाग जरूर रहा होगा जो समय के साथ उजड़ गया होगा जैसे उजड़ते जा रहे हैं जंगल और प्राकृतिक छटा, मिटते जा रहे हैं गरीब और अशक्त मनुष्य। तभी तो कवि ने इस कविता की अंतिम पंक्तियों में कहा है□

“...और मैं उसे अचभित देखता रहा/ जैसे कभी देखता था/ नूरानी बाग को...”

हां, वह नूरानी बाग अब रिहायशी इलाके में तब्दील हो चुका है जहां की गलियों से निकलती हैं नूरानी बाग की लड़कियां जिनके बारे में कहा जाता है कि ये लड़कियां गजब की शोख एवं नूरानी होती हैं। यही कारण है कि लड़के ‘फिदा हो जाने का दृश्य’ उपस्थित करने की ताक में बैठे रहते हैं। किंतु वे लड़कियां उन्हें भाव नहीं देतीं, क्योंकि हर लड़की की तरह नूरानी बाग की लड़कियों की भी ख्वाहिश होती है कि उन्हें एक अच्छा पति, एक सुंदर बच्चा और एक सुखी संसार मिले।

आज की बदली हुई जीवन-शैली में कृद्धों की दशा अत्यंत दयनीय हो गई है। बुढ़ापे में जब उन्हें सहारे की सबसे अधिक आवश्यकता होती है तब उनके अपने ही उनसे मुंह मोड़ लेते हैं। यह हमारे समय का सबसे कड़वा सच है। राजकिशोर राजन ने इस पीड़ा को



‘विदा होते पिता’ एवं ‘एक बूढ़े व्यक्ति का बाजार से लौटना’ में व्यक्त किया है।

“...पिता, पता नहीं कब अलग हो गए थे।/अपने दुःख को लेकर अपने ही घर से...”/“...अपनी पल-पल की पराजय से/कम नहीं लड़े थे पिता/क्षुब्ध नहीं लड़े थे पिता/स्वयं उनके अपनों ने ही धकियाकर/उन्हें किनारे न कर दिया...”

कोई अपना अपने बुजुर्गों को अपने साथ बेमन से रखता भी है तो उन्हें चैन से नहीं रहने देता, उनकी परेशानी बढ़ जाती है।

“...इधर कई वर्षों से/सुबह की मौ/नग वॉक भी/हो गया था स्थगित/रोज सुबह बस निकलते थे तो बाजार...”

बाजार से सामान लाने जैसे जरूरी काम बूढ़े को ही करना पड़ता है। तरह-तरह की फरमाइश की जाती है। लेकिन वह सम्मान और आत्मीयता के दो शब्द सुनने को भी तरस जाता है। उल्टे गिले-शिकवे ही सुनने पड़ते हैं।

मेरी नजर में ‘एक बूढ़े व्यक्ति का बाजार से लौटना’ इस संग्रह की सबसे अच्छी कविता है। राजकिशोर राजन की सबसे बड़ी विशेषता उनकी भाषा की सादगी है। उनकी भाषा में कहीं भी उलझाव या दुरुहता नहीं है। वे अपने भावों को बड़े ही सादगी से पाठकों के समक्ष रखते हैं। यही कारण है कि उनकी कविताओं को समझने में आम पाठक भी सहजता महसूस करता है। एक बात मैं जरूर कहना चाहूंगा कि आज की एक तरह से गद्य हो चुकी कविता में लय-ताल व बिंबों का बहुत हद तक खात्मा हो चुका है। राजकिशोर की कविताएं भी इससे अछूती नहीं हैं। इसके अलावा कुछ शब्दों की पुनरावृत्ति थोड़ी खटकती है। उदाहरण के लिए मई/ मई-जून, गुलमोहर, गली, सड़क, मोड़, बांचना, अज्ञात यौवना, नायिका आदि शब्द कई कविताओं में आए हैं। वैसे यह संग्रह ‘नेशनल लाइब्रेरी की सीढ़ियों एवं पटना की गलियों के नाम’ है; इसलिए इसमें गलियों-सड़कों का आना स्वाभाविक है। आशा है यह संग्रह पाठकों के बीच समादृत होगा।

नूरानी बाग / राजकिशोर राजन / प्रकाशन संस्थान, 4268-बी / 3, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 / मूल्य : 250.00

585 / बी डी.एस.कॉलोनी, हीरापुर, धनबाद-826001 (झारखंड) मो. 09905179746, 09471335981

कविता

आवाज नहीं ध्वनियां

गीता शर्मा

मु

वित्तबोध ने अपनी ‘डायरी’ में भाषा को एक जीवित परंपरा और सामाजिक निधि कहा है। उन्होंने यह भी लिखा है कि प्रत्येक शब्द के पीछे एक अर्थ-परंपरा होती है। ये अर्थ जीवनानुभवों से जुड़े होते हैं। जीवनानुभवों का अभाव अथवा कमी इन शब्दों को उनकी अर्थ-परंपरा से क्रमशः मुक्त और दूर करती जाती है। तभी साहित्य में विशेष रूप से कविता में छल और चमत्कार की सृष्टि होने लगती है। तब वस्तुओं, संबंधों और भावनाओं के यथार्थबोध की बजाय वास्तविकता का विरूपण होने लगता है। चमत्कार-प्रेमी कवि प्रायः त्रिलोचन की इस सीख को भी नजरंदाज कर जाते हैं।

शब्दकार, इन शब्दों में जीवन होता है ये भी चलते-फिरते और बात करते हैं; तोष, रोष जब भावों से भरते हैं, तब वैसे ही अर्थों का व्यंजन होता है, सम्मत शब्द अर्थ से अनुरंजन होता है शुक्ल जी जैसे पुराने आलोचक से सीखने में भी नए कवियों को परहेज नहीं होना चाहिए, जिन्होंने ‘रस-मीमांसा’ में बड़ी आत्मीय चेतावनी दी थी : “काव्यभूमि जीवन से, जगत् से परे नहीं है। वह वस्तु-व्यापार-योजना को केवल विलक्षणता, नवीनता या अलौकिकता दिखाने के लिए की जाएगी, जिसमें जगत् या जीवन का कोई माखमक पक्ष, गंभीर या साधारण, व्यक्त होता न दिखाई पड़ेगा, वह काव्य का ठीक लक्ष्य पूरा न कर सकेगी।” लेकिन नवीनता के नाम पर चमत्कार-प्रेमी कवि दूर की कौड़ी लाने के फेर में अक्सर ऐसी उक्तियां और ऐसे शब्द अपनी कविताओं में टूंसने लगते हैं जिनसे न केवल अर्थ की क्षति होती है बल्कि संपूर्ण

संरचना ध्वस्त हो जाती है।

हेमन्त कुकरेती के ताजा संग्रह ‘कभी जल कभी जाल’ की कविताएं पढ़ते हुए तकरीबन ऐसा ही एहसास होता है। संग्रह की अधिकांश कविताओं में ‘विलक्षणता, नवीनता या अलौकिकता’ दिखाने के चक्कर में इसी चमत्कार प्रेम के कारण अर्थ तक पहुंचने में बाधा पड़ती है। मिसाल के लिए, संग्रह की कुछ कविताओं के चंद अंश।

“मैंने उसका धुंधला-सा चेहरा देखा जो मेरे सिर को

एहतियात से लेकर भागा कि उसमें अपनी सिगरेट की राख झाड़ेगा।

एक स्त्री का रोना सुना मैंने

जो मेरे खून सने कपड़े पहचानकर हंसती हुई अचानक रोने लगी”

या



“कमरे में तो केवल उसका एकांत
लिपटा रहता है उसके शरीर से
मुंह धोने में उसे आलस आता है
बिस्तर पर ही चाय पीते हुए
वह रोने लगती है—गगन—मंडप में सेज
पिया की”

अथवा

“स्मृति थी तू या रेत की बारिश गिरती
रही
दोपहर की पत्थर आंखों ने मुझे देखा
पेड़ों के पीछे से उभरते हुए
शहर ऐसे ही बसे ऐसे ही बने सपने
ईश्वर जब मेरे हाथ धो रहा था तू कहां
थी”

और

“मेरी गर्दन पर पंजों के निशान थे
हाथों के हरे घाव जाने कब सूखेंगे
शिकंजे से छूटने को छटपटा रही थी
आवाज

मैंने कहा पानी दो मुझे ढेर सारा :
उसके शरीर में नमक खूब था
राख थी वहां

अपने सीने से मैंने उसे आकार दिया”
कवि को ‘गगन में सेज सजाने’ से
इतना प्रेम है कि ऊपर उद्धृत ‘गगन—मंडप में
सेज पिया की’ जैसे ही वह एक अन्य कविता
में भी ऐसा ही आदेश देता है (कैसे?)

“बाहर बैठकर मैंने ओस और पूरे चांद
के अंधेरे को सुनाया किस्सा
यह क्या हो जाता है मुझे
हे ईश्वर! मेरा ताप ठंडा नहीं हुआ
पानी से बांटने गया
[वहां हमारे कपड़े आत्मा की तरह तैर
रहे थे

गगन में सेज सजाओ

उसकी आवाज जैसे अनजाने अंतरिक्ष
से लौट रही थी”

हेमन्त कुकरेती की कविताएं सपाट
नहीं हैं। लेकिन फिर भी उनमें कलात्मकता
का अभाव है। इन कविताओं में पर्याप्त
बिंबात्मकता है, पर अर्थ की स्पष्टता और
सघनता का अभाव है। धारणाएं भी हैं, लेकिन
वे प्रायः भावात्मकता और ऐंद्रियता से संयुक्त
नहीं दिखतीं। इसीलिए अधिकांश कविताओं
के सौंदर्यात्मक प्रभाव की खासी क्षति हो जाती
है। श्रेष्ठ कवियों के काव्य—बिंबों की खासियत

होती है कि कई बार उनमें अनेक बिंबों का
बड़ा कलात्मक सम्मिश्रण दिखाई देता है।
यही नहीं, कई बार किसी एक तरह के बिंब
दूसरी तरह के बिंबों में स्थानांतरित या
रूपांतरित होकर और भी कलात्मकता की
सृष्टि करते हैं।

ऐसी स्थिति में कभी कोई दृश्य—बिंब
गूँजते हुए श्रव्य—बिंब में बदलकर कलात्मकता
की श्रीवृद्धि करता है, तो कभी कोई
श्रव्य—बिंब अचानक दृश्य—बिंब में
स्थानांतरित होकर समूचे दृश्य को जीवंत
और गतिशील बना देता है। लेकिन हेमन्त
कुकरेती की कविताओं में जहां कहीं ऐसा
परिवर्तन कभी दिखाई भी देता है तो वहां
अर्थ—विपर्यय के कारण वांछित लाभ की
बजाय क्षति ही अधिक हुई है। उनकी अनेक
कविताएं न केवल ठस और अर्थ को धूमिल
या लुप्त कर डालने वाली अतिशय
बिंबात्मकता से बोझिल नजर आती हैं, बल्कि
उनके ज्यादातर बिंब वस्तु जगत् से कवि
के भावात्मक और ऐंद्रिय लगाव के अभाव
अथवा कमी के चलते टूटकर बिखरने लगते
हैं। उनकी कविताओं में प्रस्तुत और अप्रस्तुत
दोनों रूपों में प्रयुक्त बिंबों के साथ ऐसी
ही दुर्घटनाएं घटित हुई हैं। इसके पीछे
कहीं—न—कहीं उनका चमत्कार—प्रेम और
अनोखी बात कहने का व्यर्थ दुराग्रह ही प्रतीत
होता है। मौलिक उक्ति और नई—से—नई बात
कहने वाला कवि भी अपनी भाषा परंपरा
और अपने पूर्ववर्ती श्रेष्ठ कवियों की
काव्य—परंपरा से बिलकुल कटा हुआ नहीं
होता। स्वयं कुकरेती की ही काव्य—पंक्तियों
में कहा जाए तो उनकी सबसे बड़ी दिक्कत
यही है कि

“और यह पहली बार नहीं था

और हमेशा यही हुआ

और मुझे फिर लगा

मेरे मुंह से आवाज नहीं ध्वनियां निकल
रही हैं

जिन्हें मेरे सिवाय कोई नहीं समझ
पाएगा”

कहना न होगा कि जब मुंह से आवाज
(कोई सार्थक बात या विचार) न निकलकर
मात्रा चामत्कारिक ‘ध्वनियां’ ही निकलेंगी तो
वस्तु जगत् और अपनी श्रेष्ठ काव्य—परंपरा से
कटी कविताओं की इन अर्थहीन ‘ध्वनियों’ को



ख्युद कवि के सिवाय और कोई समझ भी नहीं
पाएगा। तब ऐसा कवि अपने ही बुने
ऊल—जुलूल जाल में फंसकर डूबने से बच
नहीं सकेगा

“कई बार मैं डूब गया तो फंसा मिला
उसके जाल में”

देखा जाए तो कुकरेती की ज्यादातर
कविताओं की भाषा सरल है। लेकिन अपने
इन्हीं दोषों और व्यर्थ के चमत्कार—प्रेम के
कारण वे वांछित अर्थ और सहज संप्रेषण में
बाधक नजर आती हैं। पर्याप्त गद्यात्मक और
सरल भाषा में होने के बावजूद ये कविताएं
दुरुह बिंबों और उलझी हुई धारणाओं के कारण
जटिल हो गई हैं। दूसरे असहज भंगिमाओं
और अति नाटकीयता की वजह से भी कृत्रिमता
की शिकार होने से बच नहीं पाई हैं।

हेमन्त कुकरेती का यह चौथा संकलन
है। उनके पहले संग्रह ने खासा ध्यान खींचा
था। बीच—बीच में भी कभी—कभार उनकी कुछ
अच्छी कविताएं दिखती रही हैं। इस संग्रह
में भी कुल 70 कविताओं में से जो बच
सकते हैं, उसके बारे में, शेष प्रसंग, जीवन में
जगह, एक बिदा गीत की अधूरी पंक्तियां,
मुझे पाने के लिए, ठिकाना, भोर पृथ्वी को
देती है ओस, थोड़ा—सा वक्त, अमरत्व, उस
कथा में कहीं विराम नहीं था, घृणा भरा यह
समय, कि और मनुष्य हूं जीवित—जैसी
13—14 अच्छी कविताएं उनकी प्रतिभा का
पर्याप्त सबूत देती हैं। उनमें भरपूर संभावनाएं
हैं, बशर्ते वे चमत्कार—प्रेम से बच सकें और
‘अनोखेपन’ के जुनून पर कुछ अंकुश लगा
सकें।

कभी जल कभी जाल / हेमन्त कुकरेती / भारतीय
ज्ञानपीठ, 18 इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई
दिल्ली—110003, मूल्य—110.00

बी—13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट्स/सी—1, वसुंधरा
इंक्लेव, दिल्ली—110096, फोन—011—22629238,
मो. 9560466212

आत्महत्या के पर्याय

उत्तिमा केशरी

“सा

हित्य की बुनियादी मांग स्वाधीनता है। यह जितना वस्तुगत होती है, उससे कहीं अधिक आत्मगत होती है। वस्तुजगत भी जब तक अंतर्जगत को उद्वेलित नहीं

करता, तब तक रचना संभव नहीं हो पाती। स्वतः स्फूर्त या अंतःस्फुरण ही रचना में कल्पना, सौंदर्य और संवेदन गुण पैदा करता है।” प्रभाकर श्रोत्रिय का यह रचनात्मक कथन वंदना देवेंद्र के कविता संग्रह ‘आत्महत्या के पर्याय’ में बखूबी महसूसी जा सकती है। संग्रह की कविताओं में जीवन की सार्थक जड़ों को तलाशने की कवयित्री की रचनात्मक कोशिश वैश्विक विसंगतियों से बाहर निकलने की बेचैनी तथा समाज और संबंधों की सूखती जड़ों को हरा बनाए रखने की एक गंभीर चिंता दिखाई देती है। जहां वंदना की संवेदना ज्यादा सूक्ष्म और पारदर्शी हुई है, दृष्टि ज्यादातर धारदार और भाषा सहजता के साथ मुखरित हुई है।

जीवन के बुनियादी मुद्दों पर केंद्रित प्रस्तुत संग्रह की विभिन्न कविताएं, पाठकों को विचलित तो करती ही हैं, उन जटिल स्थितियों के प्रति सोचने के लिए भी बाध्य करती हैं। कविता ‘आत्महत्या के पर्याय’ इन्हीं सवालों के साथ आती है—‘अंधों के अंधेरे भी/सिर्फ रात जैसे ही नहीं होते/वे नीले, पीले, हरे धुंधलके हो सकते हैं/जैसे हो सकते हैं और भी/आत्महत्या के पर्याय।’ यहां जीवन से पलायन नहीं है। बल्कि जिजीविषा के साथ जीवन जीने की अद्भुत ललक है। ‘सूर्य का रक्त’ कविता अपने समय के गंभीर मुद्दों से न सिर्फ संवाद करती है, बल्कि उनमें हिस्सेदारी का माद्दा भी रखती है, इन आशयों के साथ कि ‘ताजा पकी स्वखणम फसलें/भरती हैं पेट और फिर पेट फैलते हैं/बर्बर भूखों के अजदहे जनते हैं दुखभक्ष।’ वंदना की ये कविताएं महज

अपने समय का बयान भर नहीं हैं। कविताओं की अंतर्वस्तुओं में ऐसा बहुत कुछ है, जो कविता को संश्लिष्ट और अर्थसघन बनाता है। ‘सिंह की यादों में घुमड़ रहे थे/मनुष्यता के अप्रत्याशित घात’ कविता ‘नाहर दृष्टिकोण से’ एक सवाल के साथ प्रस्तुत होती है कि आखिर अपने इर्द-गिर्द की जिंदगी से सरोकार रखने वाली इन स्थितियों के प्रति, हम इतने भयावह रूप से असंवेदनशील और निखलपत क्यों हैं? कविता ‘वणिक वीथि’ बहुत बारीकी से साम्राज्यवाद की तालिबानी-संस्कृति की नंगई को पाठकों के समक्ष रखती है। जहां इनके चरित्रों का अतीत भी अपनी भयावहता से विचलित करता है। ‘भारत सोने की चिड़िया’ है, लेकिन साम्राज्यवाद की ताकतों ने, किस कदर इनके पंख समय-दर-समय कतरे हैं उन चीखों की अनुगूंज अभी जारी है। कविता ‘मुशरफ का लिहाफ’ क्या है? सत्ता के निरंतर निर्मम होते जाते चरित्र और लोकतंत्रा के मध्य आम-जन के भीतर पसरते असंवेदनशील सन्नाटे को, परत-दर-परत उन तमाम तिकत मनोदशा को व्यक्त करती है। राजनीति के छद्म को



व्यक्त करती एक और कविता ‘टोपिया’ भी गौरतलब है कि ‘कमीज के नीचे सब अवसरवादी थे/अपने झोले और खादी के बावजूद/पूंजीवादी भी बन गए थे/कमीज तक समाजवादी।’ कविता ‘रंगे सियार’ में कवयित्री युद्ध की राजनीति को गंभीरता से समझती है। ‘उनका कमजोर जर्जर विरोध’ के बावजूद आज भी ‘युद्ध जीवित है।’ अंततः ये कविताएं समय-संकट को व्यक्त करती हैं।

कवयित्री के भीतर प्रकृति और पर्यावरण के प्रति दिलचस्पियों की एक विराट संवेदनशील दुनिया भी मौजूद है। आखिर वंदना एक चित्राकार भी हैं। प्रकृति के लुप्त सौंदर्य से वे आहत होती हैं। तब वे सोचती हैं—‘क्यों नहीं उन सबकी तस्वीरें बनाई जाएं। तत्क्षण वे शब्दों से ऐसा रेखाचित्रा खींच देती हैं, जैसे कैनवस पर कलाकार का खास रेखांकन। कविता ‘एक पेड़’ से यह उद्धरण—‘एक पेड़/जिसे देखना चाहती थी मैं/हमेशा सरसब्ज, हरा-भरा/मैंने तस्वीर में उतार लिया/...अब नहीं होंगे उसके पत्ते पीले...।’ इन्हीं क्रम में कविता ‘नदी’ का यह स्वर ‘अचानक कहां तिरोहित हो गई वह/पौराणिक सरस्वती की विशालता के विपरीत’ का स्वर हमें विचलित कर देता है। कविता ‘गंगा स्नान’ के बहाने एक पतित-ईमानदार जीवन के तथ्य को महसूसती हुई, मनुष्य और नदी के वास्तविक अस्तित्व को पाने की ललक है। पेड़ के अस्तित्व और पर्यावरण के क्षरण के कारणों को महसूसती ‘पेड़ की जमीन’ की चीख और उसकी अनुगूंज कविता के इन संदर्भों से सुनी जा सकती है—‘भूलुंठित उस वृक्ष का शरीर/किस्तों में काटा और ढोया जा रहा था/अब वे अपनी अगली पीढ़ी को/पेड़ से मुक्त जमीन की/विरासत सौंप जाएंगे।’

कवयित्री के भीतर बैठी विनम्र सदाशयता अपनी एक अदम्य आशावाद से भरी हुई है। जीवन और यथार्थ से प्रभावित, बहुत सारे

मोहभंगों के बीच यह आशावाद, मन को सुकून देता है। आखिर जीने के लिए सपनों व संकल्पों की कोई रूपरेखा तो चाहिए जो जमीन से जोड़ सके। लिहाजा वंदना इन अपेक्षाओं में एक से एक अनूठे बिंबों में अर्थ दीप्त कविताएं रचती हैं। यहां कविता 'दुआ करो' का मर्म खिल उठता है। पर्यावरण और प्रकृति की सघन अपेक्षा में, व्याप्त जहरवाद के विरुद्ध कविता का यह स्वर विचलित करता है। 'दुआ करो/वे नदियां चिरयौवना हों/जो गेहूं और धान के सपने में/छलकाती हैं, भीनी, खूबसूरत लोरियां।' ऐतिहासिक चरित्रों या इतने विसन महानुभावों के बीच/एक स्त्री के अनावृत कुच और जंघाएं/कदाचित असमर्थ थे।' निश्चय ही यह अनावृत होती स्त्री की त्रासदी, आज बदस्तूर जारी है। जीवन के आपाधापी में अपने होने का बोध मृत-सा हो गया है। बावजूद उसे महसूसने की छटपटाहट मन के किसी कोने में तो अवश्य दबी रहती है। इन अपेक्षाओं का खयाल, कविताएं 'खयाल' एवं 'घर' करती हैं।

कविता 'भीत' 'सभ्यता के ऊंचे सोपान चढ़ते/वे मनुष्यों से/मशीनों में तब्दील हो रहे थे।' समय-दंश से प्रभावित, अस्तित्व खोती चेतना को व्यक्त करती है। साथ ही ये कविताएं भी समय-संकट और मानवीय संवेदनाओं के कुंठित भावों को चिह्नित करती हैं। 'नदी', 'बुद्ध का स्मित', 'बत्तखों और लिली फूलों के लिए', 'फिर महाभारत', 'बेझड़', 'देवलोक', 'मृत्युलोक', 'चिड़ियों की दुनिया के पास', 'नदी', 'नावें', 'हत्यारे, सिकंदर', 'अंग-संग' एवं 'हवा में'।

और अंत में संग्रह की लंबी कविता 'शूर्पणखा' के चरित्रा को नई दृष्टि से सहेजना आकृष्ट करता है क्योंकि वंदना देवेन्द्र की कविताएं नई मनोभूमि पर खड़ी, उन मानसिकताओं के साथ, उनमें आए नए बदलावों का जिज्ञासु मन और उनके सूक्ष्म संवेदनाओं को गहरे अंदाज में व्यक्त करती हैं। साथ ही संग्रह की अधिकांश कविताएं हमारे निजी और सामाजिक जीवन की दारुण विपत्ति, विडंबना और नैतिक-संकल्प की कविताएं हैं।

आत्महत्या के पर्याय / वंदना देवेन्द्र / राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : 150.00

भट्टा दुर्गा बाड़ी, पूखणयां-854301 दूरभाष □
06454-244776

आलोचना

औपनिवेशिक प्रणाली के ध्वंस की कला

श्याम कश्यप

बा

त नई हो और सटीक भी तो ज़्यादा आकरषत करती है। नामवर सिंह की आलोचना का सबसे बड़ा गुण यही है। लिखित से अधिक मौखिक परंपरा में। बिजली की कौंध की तरह कोई विचार आता है। क्रमशः तर्क की शृंखला के सहारे आगे बढ़ता, फलता-फूलता, विकसित होता है। सूक्ष्म विश्लेषण और गहरे विवेचन से वह धीरे-धीरे एक अवधारणा का रूप लेता है। सर्वथा नई अवधारणा। एक मौलिक सिद्धांत। लेकिन अपने लचीलेपन और दूसरों को शामिल करने के कारण आलोचना में 'सहयोगी प्रयास'; जैसा कि नामवरजी ख्युद उसे कहते भी हैं। एक बहस। दूसरों से। दूसरों से ज़्यादा स्वयं अपने-आप से।

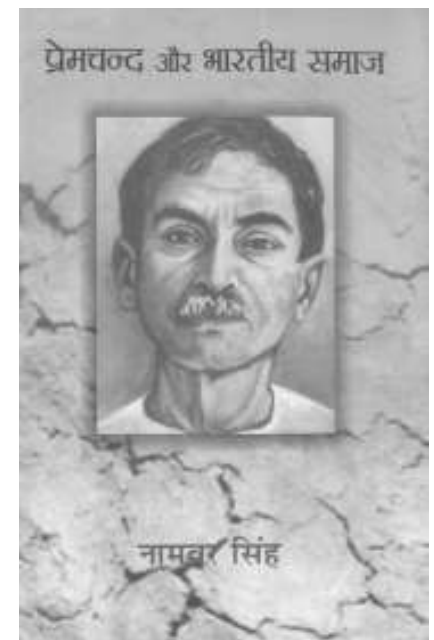
नामवर सिंह का महत्त्व यह है कि उन्होंने प्रायः कविता-केंद्रित आलोचना को कथा-साहित्य की ओर मोड़ा। पहले कहानी, फिर प्रेमचंद के बहाने उपन्यास की ओर। सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि उन्होंने 'यूरोपीय नावेल' या 'अंग्रेज़ी ढंग के उपन्यास' के बरक्स 'भारतीय उपन्यास' की एक नई अवधारणा दी, भारतीय भाषाओं में उपन्यास के उदय की परिस्थितियों को टटोलते हुए। फिर उनका संबंध विश्व-साहित्य से जोड़ा।

कहना न होगा कि इस सारे विवेचन के केंद्र में प्रेमचंद का मूल्यांकन है; और इस मूल्यांकन की पृष्ठभूमि में है संक्रमणकालीन भारतीय समाज। उसकी विभिन्न परतों का सूक्ष्म विश्लेषण। औपनिवेशिक प्रणाली और उसमें सबसे ज़्यादा पिसता और अंततः संघर्ष करता भारतीय किसान। इसी क्रम में वे मार्क्सवादी आलोचना को उसकी रुढ़ियों से मुक्त करते हैं। अवरुद्ध पथ को छोड़कर,

बल्कि तोड़कर नए परिप्रेक्ष्य की झलक दिखाते हैं!

समीक्षित पुस्तक **प्रेमचंद और भारतीय समाज** में संकलित 19 निबंधों की विषय वस्तु कमोबेश यही है। इनमें 'आलोचना' के दो संपादकीय (प्रेमचंद जन्मशती अंक का और बंकिमचंद्र के 'आनंदमठ' की शतवाख्यकी पर) और साहित्य अकादेमी की संगोष्ठियों में पठित दो निबंधों के अलावा आठ अत्यंत महत्त्वपूर्ण व्याख्यान शामिल हैं। व्याख्यानों के लिखित एवं सुसंपादित रूप जो सुसंबद्ध और सुगठित आलेखों की शकल में हैं। कुछेक को छोड़कर प्रायः ये सभी निबंध प्रेमचंद जन्मशती पर या उसके कुछ बाद दिए व्याख्यान हैं।

'प्रेमचंद और तोल्सतॉय' तथा 'सांप्रदायिकता का सवाल' (1968) से लेकर 'सहारा समय' की टिप्पणी (2003) 'स्वाधीनता



संग्राम का वर्ग चरित्रा और गोदान' (2005) तक तकरीबन चार दशकों के चिंतन, मनन और लेखन का ऐतिहासिक दस्तावेज। सभी स्थापित मान्यताक्रमों (कैनन्स) से अलग हटकर यथार्थवाद, उपन्यास के कलारूप और उसके अलग-अलग ढांचों की पुनर्परीक्षा! इसी क्रम में कुल मिलाकर मार्क्सवादी आलोचना के नव्य विकास का एक भरा-पूरा खाका! सिर्फ खाका नहीं, भावी उन्मुक्त परिप्रेक्ष्य भी!

लेसली फिण्डलर की टिप्पणी कि 'देश और उपन्यास साथ-साथ जन्म लेते हैं' का उल्लेख कर नामवरजी बताते हैं कि पश्चिमी यूरोप की तुलना में उत्तरी अमरीका में उपन्यास का उदय देर से हुआ। भारत में और देर से। वे लिखते हैं कि "उत्तरी अमरीका में भले ही ऐसा न हुआ हो, (यानी देश और उपन्यास का सह-उद्भव), लेकिन एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमरीका में तो उपन्यास और देश के सह-उद्भव को साफ-साफ देखा जा सकता है।" वे इसमें रूस को भी शामिल करते हैं जहां दिसंबरवादी आंदोलन के बाद ही पुश्किन की 'बेलकिन की कहानियां' फिर 'कप्तान की बेटी' उपन्यास लिखा गया। फिर आए गोगोल, लेर्मन्त्रोव, तोल्स्तोय, दोस्तोवस्की और तुर्गनेव। वहां भी देश और उपन्यास ने साथ-साथ जन्म लिया।

भारत के विशेष संदर्भ में नामवरजी मानते हैं कि "हमें 1857 पर गौरव करना चाहिए, जो भारत की आजषदी के लिए लड़े गए पहले महायुद्ध का वर्ष है। भारत में उपन्यास का उदय इस विराट राजनीतिक उथल-पुथल के बाद ही हुआ, यह संयोग मात्रा नहीं है।" वे लिखते हैं कि "एक देश के रूप में भारत की अवधारणा 1857 से शुरू होती है, भले ही वह उस क्षण एक संप्रभु राज्य न हो सका। और याद रखना होगा कि भारत में उपन्यास इसी अहम तारीख के बाद लिखे जाने शुरू हुए।" हिंदी में तो उपन्यास अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना में और भी विलंब से विकसित हुआ। बांग्ला, मराठी, गुजराती और मलयालम ही नहीं, अपनी सगौत्री उर्दू की तुलना में भी विलंब से! इन भाषाओं की तरह हिंदी में लंबे समय तक गद्य और पद्य की भाषा एक नहीं थी। सामंतवाद भी हिंदी भाषा-भाषी प्रदेश में सबसे लंबे समय तक और सबसे ज्यादा मजबूत

रहा। रीतिकाल की ढाई सौ साल तक की लंबी और व्यापक परंपरा भी किसी और भारतीय भाषा में नहीं रही।

नामवरजी बताते हैं कि "उन्नीसवीं शताब्दी में उपन्यास के नाम पर जो कुछ हमारे यहां आया उसमें आपको दास्तान, किष्सागशेई, आख्यानक और कथात्मकता आदि ये सारी चीजों मिलेंगी। हो सकता है ये रोमांस की कोटि में आ जाएं, लेकिन ठेठ पारिभाषिक अर्थ में ये नावेल बनते हुए दिखाई नहीं पड़ते हैं।" भारत में लंबे कथा-प्रबंध लिखने की अत्यंत प्राचीन परंपरा की ओर ध्यान दिलाते हुए वे बाणभट्ट की 'कादंबरी', 'दशकुमार चरित्रा', 'कथा सरित्सागर' और लंबी जातक कथाओं का जिफ्र करतें हैं। यहां पंचतंत्रा की कहानियां और जैन आख्यानक भी जोड़े जा सकते हैं। यथार्थ और कल्पना के समन्वित रूप!

बंकिमचंद्र के उपन्यास, जिन्हें नामवर जी प्रथम भारतीय उपन्यासकार का गौरव प्रदान करते हैं, बांग्ला के ही प्यारमोहन मित्रा का 'अलाल भरे गुलाल' (1854) हिंदी में जगमोहन सिंह का 'श्वामास्वप्न' (1885), मराठी के हरिनारायण आपटे, गुजराती के गोवर्धन राम त्रिपाठी, मलयालम के मार्तण्ड वर्मा और हिंदी के ही किशोरी लाल गोस्वामी के उपन्यासों तथा सरशार के 'फषाने-आजषद' और रुस्वा के 'उमराव जान अदा' यानी उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में लिखी गई ये सभी लंबी गद्य-कथाएं 'इंग्लिश नावेल' नहीं थीं। अधिक-से-अधिक इन्हें 'रोमांस' कह सकते हैं। यथार्थ और कल्पना का संगम। यहां तक कि भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भी 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती' नाम से उपन्यास लिखना शुरू किया था जो पूरा न हो सका। आप-बीती और जग-बीती यानी वैयक्तिकता (सब्जेक्टिविटी) और सामाजिकता (ऑब्जेक्टिविटी) का, कल्पना और यथार्थ का समन्वय।

नामवरजी के अनुसार "भारतीय उपन्यास के मूलाधार उन्नीसवीं शताब्दी के ये 'रोमांस' ही हैं, न कि तथाकथित अंग्रेजिष ढंग के उपन्यास! उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय मानस का सही प्रतिनिधित्व 'कपालकुंडला' करती है, 'परीक्षा गुरु' नहीं और तथाकथित 'अंग्रेजी ढंग के 'नावेल' का तिरस्कार करके ही बंकिमचंद्र के रोमांसधर्मी

उपन्यासों ने भारतीय राष्ट्र के भारतीय उपन्यास की अपनी पहचान बनाने में पहल की।" इनके पीछे भारतीय आख्यान परंपरा की लंबी पृष्ठभूमि ही नहीं थी, इनका रूप-बंध भी उससे पूरी तरह प्रभावित नज्ब आता है। दरअसल, अंग्रेजिष ढंग के 'नावेल' का यह तिरस्कार उपनिवेशवाद का भी तिरस्कार था! रूप ही नहीं अंतर्वस्तु में भी!

नामवरजी बताते हैं कि "उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय 'रोमांस' लोकंजन तक ही सीमित न थे, बल्कि उनमें एक राष्ट्रीय भावना भी अंतर्बहित थी" और "काल्पनिक होते हुए भी वे यथार्थ में हस्तक्षेप करने में समर्थ थे; बहुत कुछ अनैतिहासिक होते हुए भी इतिहास के निर्माण में प्रयत्नशील थे; और विषयवस्तु में स्पष्टतः राष्ट्रीय न होते हुए भी अन्तर्वस्तु में राष्ट्रीय रूपक का आभास देते थे।" इस दृष्टि से वे राष्ट्र-निर्माण और उपन्यास के बीच द्वंद्वत्मक संबंध मानते हुए कहते हैं कि "उपन्यास ने यदि राष्ट्र का रूप निखरत किया तो राष्ट्रीय कल्पना ने उपन्यास के रूप-निर्माण में भी नियामक भूमिका अदा की।" राष्ट्र-निर्माण और उपन्यास के बीच इस द्वंद्व के कारण ही उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश भारतीय उपन्यास राजनीतिक हैं। कथानक चाहे ऐतिहासिक हो या सामाजिक अपना निजी प्रेम की कहानी, उनसे कोई-न-कोई राजनीतिक अर्थ अवश्य ध्वनित होता है। इसी बात को लक्ष्य कर अमरीकी मार्क्सवादी आलोचक फ्रेडरिक जेम्सन ने भारत सहित तीसरी दुनिया के सभी देशों के उपन्यासों को 'नेशन एलिगरी' (राष्ट्र रूपक) कहा है।

नामवरजी के अनुसार "बंकिम के रोमांसधर्मी उपन्यासों में भी यथार्थ के चित्रा कम नहीं हैं। उदाहरण के लिए 'आनंदमठ' में ही बांगला के गांवों की दुर्दशा के चित्रा। निश्चय ही शताब्दी का अंत होते-होते क्रमशः इस यथार्थवाद में व्यापकता भी आई और गहराई भी। फकीर मोहन सेनापति का उड़िया उपन्यास 'छ माण आठ गुंठ' विकास की इस ऐतिहासिक प्रक्रिया की अंतिम परिणति है और सर्वोत्तम उपलब्धि भी। यह उपन्यास एक प्रकार से प्रेमचंद के उपन्यासों का पूर्वाभास है।" वे लिखते हैं कि भारत में "औपनिवेशिक समाज में उपन्यास राष्ट्रीय मुक्ति के आंदोलन के रूप में विकसित हुआ। उस राष्ट्रीय मुक्ति

आंदोलन जिसका संबंध किसानों में संघर्ष से, किसानों की भूमिका से है।" इसी कारण प्रेमचंद 'भारतीय उपन्यास' के सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं और उसकी सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि भी।

यूरोपीय संदर्भ में उपन्यास को 'मध्यवर्ग का महाकाव्य' माना गया है, जबकि नामवर जी के मतानुसार भारत में उपन्यास का उदय मध्यवर्ग की महागाथा नहीं बल्कि 'किसान जीवन की महागाथा' के रूप में हुआ है। इस महागाथा के सबसे बड़े गाथाकार कल भी प्रेमचंद थे, आज भी प्रेमचंद हैं। ये बताते हैं कि "भारत में जितने महत्त्वपूर्ण उपन्यास लिखे गए हैं, कहीं-न-कहीं उनका मूलाधार और अंतर्वस्तु वह किसान चेतना है जो एक ओर प्रेमचंद के 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' में है, तो दूसरी ओर वह चेतना विभूतिभूषण बंदोपाध्याय, मानिक बंदोपाध्याय, ताराशंकर बंदोपाध्याय के अधिकांश उपन्यासों में है। वहीं आगे चलकर हिंदी में रेणु में, गुजराती में पन्नालाल पटेल में, मराठी में बंकटेश नागुलकर और उनके समव्यक्तियों में, मलयालम में तकषि शिवशंकर पिल्लै के उपन्यासों की मुख्यधारा रही है।" इसे ही वे भारतीय उपन्यास का मूल स्वरूप मानते हैं। उसकी पहचान मानते हैं।

नामवरजी इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर भी ध्यान दिलाते हैं कि यूरोप में छापेखाने और अखबारों के समानांतर उपन्यास के उदय के साथ ही हाशिए पर पड़ी नारी केंद्र में आ जाती है। भारत में भी 'प्रेस' के विकास के समानांतर किसान और नारी, ये दोनों। वे लिखते हैं कि "किसी भी राष्ट्र की अपनी पहचान उसकी भाषा है; और कहना न होगा कि गद्य के सबसे लोकप्रिय रूपबंध के रूप में उपन्यास ने भारत की आधुनिक भाषाओं को मानक रूप दिया। यह मानकीकरण छपे हुए गद्य के बिना संभव न था। संतों-भक्तों ने आधुनिक भारत की लोकभाषाओं को साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठित किया तो उपन्यास ने उन्हें राष्ट्रीय रूप प्रदान किया।" वे मानते हैं कि इस लिहाज से हिंदी भाषी क्षेत्रा में उपन्यास की भूमिका विशेष उल्लेखनीय है। वह इस दृष्टि से कि प्रेमचंद पहले ऐसे महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार थे जिन्होंने औपनिवेशिक किसान के शोषण और दमित

नारी की पीड़ा, इन दोनों धाराओं को एक जगह किया।

उल्लेखनीय है कि उड़िया में 'छ माण आठ गुंठ' के लेखक फष्कीर मोहन सेनापति और बांग्ला में 'दुर्गेशनदिनी', 'कपालकुंडला' और 'मृणालिनी' के रचनाकार बंकिमचंद्र इन दोनों धाराओं में प्रेमचंद के अग्रज और पूर्वज थे। प्रेमचंद के 'सेवासदन' में उपेक्षिता नारी और 'प्रेमाश्रम' में शोषित किसानों की ये दोनों धाराएं 'गोदान' में आकर समन्वित और एकीकृत होती हैं। हालांकि शुरुआत इसकी 'रंगभूमि' में ही नज्र आने लगती है। इस तरह प्रेमचंद के रूप में भारतीय उपन्यास सही अर्थों में अपनी अस्मिता प्राप्त करता है। यह अनायास ही नहीं है कि प्रेमचंद और विशेष रूप से 'गोदान' हर तरह के कलावादी-रूपवादी और औपनिवेशिक सत्य से प्रभावित आधुनिकतावादियों और उत्तर-आधुनिकतावादियों के निशाने पर सबसे ज्यादा रहे हैं। आज भी हैं।

मिसाल के लिए, नयपाल की दृष्टि में प्रेमचंद एक अदना किष्सागशे थे जो विधवाओं और बहुओं की समस्याओं से ग्रस्त रहे। जैनंद्र को उनसे शिकायत थी कि वे सत् के साथ रहने और असत् से लड़ने के लिए सहानुभूति का बंटवारा करते थे, जो गश्लत था। उन्हें लगता था कि 'गोदान' में कोई किसी पर अत्याचार नहीं करता, कोई शोषण की बात नहीं है। नामवरजी के शब्दों में, ये जैनंद्र "प्रेमचंद के निकट का ही आदमी है जो 'गोदान' के विन्यास पर, भाषा पर, शैली पर, चरित्रों पर और पूरे 'गोदान' की बुनियाद पर कुठाराघात करता है।" इसी तरह अज्ञेय भी प्रेमचंद में महाकारुण्य की व्यापक संवेदना देखने के साथ ही कला की दृष्टि से उनके उपन्यासों को बेहद कमजोर मानते थे। विद्यानिवास मिश्र के संपादन में 'साहित्य अमृत' ने प्रेमचंद के उपन्यास 'निर्मला' को स्कूली छात्रों के लिए अनुपयुक्त ठहराया। **एनसीइआरटी** (राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद) ने उसे स्कूल पाठ्यक्रम से बाहर निकाल भी दिया है। विजयदेव नारायण साही के अनुसार 'गोदान' को ऐतिहासिक-सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखना गश्लत है। विश्वनाथ नरवरे को लगता है कि प्रेमचंद के पास सूक्ष्म कवित्व और

प्रकृति को देखने की दृष्टि ही नहीं थी। गोयनका और शैलेश जैषी जैसे लोगों को और कुछ नहीं मिला तो प्रेमचंद के चरित्र पर ही कीचड़ उछालते रहे।

निर्मल वर्मा को प्रेमचंद के उपन्यासों का ढांचा अत्यंत शिथिल लगता है और 'गोदान' की समूची औपनिवेशिक संरचना के केंद्र में कमजोरी नज्र आती है। नामवर जी के शब्दों में "जो प्रेमचंद की सबसे बड़ी ताकत मानी जाती है, उन्होंने (निर्मल ने) उसी पर कुठाराघात किया है।" इसी तरह जब निर्मल जी यह लिखते हैं कि प्रेमचंद ने भारतीय किसानों की ऐतिहासिक विकृति को देखा था, पर किसान का मूल सांस्कृतिक टेक्सचर ऐतिहासिक रूप में क्या था उसे देखने की अंतर्दृष्टि प्रेमचंद में नहीं थी, तो बकपैल नामवरजी, "प्रेमचंद का सबसे बड़ा जो सबल पक्ष था कि भारतीय किसान को इन्होंने दिखाया है, निर्मल जी वह भी छीन लेना चाहते हैं और कहते हैं कि वह सच्चा भारतीय किसान नहीं है।" नामवरजी डॉ. रामविलास शर्मा द्वारा किए गए प्रेमचंद-मूल्यांकन के हवाले से यही प्रस्थापित करते हैं कि कालजयी कृतियां एक निश्चित देशकाल के बिना नहीं समझी जा सकतीं। समझने के लिए जफरूरी है □ उसका टेक्स्ट और कॉन्टेक्ट! कहना न होगा कि कॉन्टेक्ट के आते ही उपनिवेशवाद, पूंजीवाद, वर्ग-भेद, शोषण और उसके खिलाफ संघर्ष तथा राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम के सारे राजनीतिक संदर्भ आएंगे ही!

इसीलिए नामवरजी 'गोदान' को एक 'पोलिटिकल क्रिटीक' मानते हुए लिखते हैं कि "उस दौर में जितने भी उपन्यास लिखे गए हैं, चाहे वे रवीन्द्रनाथ के हों या शतरंज के हों, या दूसरे लोगों ने लिखे हों, कोई उपन्यास इतना मुकम्मल और गहरी सामाजिक-राजनीतिक समझ के साथ और अपने दौर को देखते हुए नहीं लिखा गया।" वे यह भी कहते हैं कि प्रेमचंद ने गाय को एक प्रतीक के रूप में चुना था, क्योंकि प्रेमचंद के किसान के लिए गाय 'सुराज' की प्रतीक है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, "प्रेमचंद ने आइरनी क्रिएट की है, गाय तो नहीं मिली, बल्कि उसकी पूंछ पकड़ के स्वर्ग जाने का भी अवसर नहीं मिला। अतएव, यह उस दौर के, स्वाधीनता

संग्राम की ट्रेजिडी है, केवल भारतीय किसान की ट्रेजिडी नहीं!

हमले तो प्रेमचंद पर उनके जीते-जी भी बहुत हुए थे। उनके समकालीनों ने भी कम आक्रमण नहीं किए थे। अवध उपाध्याय ने 'प्रेमाश्रम' को तोल्सतय के 'रिजेप्शन' की नकल बताया था, तो 'गोदान' के मातादीन-सिलिया प्रसंग के लिए श्रीनाथ सिंह ने उन्हें घृणा का प्रचारक। नंददुलारे वाजपेयी भी उन्हें ब्राह्मण-विरोधी कहकर समसामयिकता के लिए उनकी खिल्ली उड़ाते थे कि आज अखबार में कोई खबर छपी, कल उस पर प्रेमचंद की कहानी आ जाएगी। आज के तथाकथित नारी-विमर्श और दलित-विमर्श के दौर में उन्हें दलित-विरोधी करार देकर उनके उपन्यास 'रंगभूमि' और 'कफ़्फ़' कहानी की प्रतियां जलाई जाती हैं। उन पर उनकी एक कहानी 'मोटेराम शास्त्री' के लिए मुकदमा तक चला था। आज तो सारे फ़ैसले ही सड़कों पर होली जलाकर हो रहे हैं। इसलिए, नामवरजी की इस बात को सचमुच गंभीरता से लेने की आवश्यकता है कि रूमेर, मीडिया और 'संस्कृति' के इस नए दौर में फिर प्रेमचंद की रक्षा करने की ज़रूरत है।

कहना न होगा कि इस प्रसंग में डॉ. रामविलास शर्मा का प्रेमचंद-मूल्यांकन हमारे हाथ में एक अमोघ अस्त्र है; और नामवरजी ने इस संकलन में प्रेमचंद के जीवन, उनकी विचारधारा, उनकी कृतियों के विश्लेषण और उनकी कला की विवेचना में इसका भरपूर और सधा हुआ सदुपयोग भी किया है। लेकिन हैरानी एक बात को लेकर अवश्य होती है। रामविलास जी ने प्रेमचंद के हर तरह के आलोचकों और निंदकों को कड़ा और मुंहतोड़ जवाब दिया है; फिर वे चाहे दक्षिणपंथी-रूढ़िवादी हों या कलावादी-रूपवादी और तथाकथित 'आधुनिकतावादी'; अथवा फिर चरमपंथी और संकीर्ण वामपंथी। कोई भी अवसरवादी उनके कठोर किंतु तर्कसंगत प्रहार से बचकर निकल नहीं पाया! लेकिन नामवरजी 'वाम' अवसरवादियों के प्रेमचंद पर अनर्गल और तर्कहीन प्रहारों की अनदेखी कर उन्हें जिस तरह 'आलोचना' का मंच देते रहे हैं, इससे बड़ी दुविधा होती है कि ऐसा मौन समर्थन भला आलोचना का कौन-सा 'सहयोगी प्रयास' है।

प्रेमचंद और भारतेंदु के साथ ही पिछले कुछ वर्षों से, खासतौर से 'आनंदमठ' की शतवाख़रकी के मौके से बंकिमचंद्र भी निशाने पर रहे हैं। तरह-तरह के 'वाम' अवसरवादी या अपढ़ इतिहासकार और समाजशास्त्री इनमें तथाकथित 'हिंदुत्व', 'हिंदू सांप्रदायिकता' और मुस्लिम-विरोध और देशभक्ति से ज़्यादा 'राजभक्ति' देखते और दिखाते रहे हैं। प्रेमचंद के मामले में भले नामवरजी 'डिप्लोमेटिक' चुप्पी साधे रहें, भारतेंदु के प्रसंग में उन्होंने इन अवसरवादियों और तथाकथित 'सबाल्टर्न' इतिहासकारों की ठीक खबर ली है। भले ही आधे-अधूरे मन से। लेकिन बंकिम के प्रसंग में वे ऐसी कोई रियायत नहीं देते। संकलन का लेख 'उपन्यास की राजनीति' इसका प्रमाण है, जो वस्तुतः 'आनंदमठ' के प्रकाशन की शताब्दी पर 'आलोचना' का विशेष संपादकीय है। बंकिम के निंदकों को यह मुंहतोड़ जवाब है।

अपने शानदार संपादकीय में वे बताते हैं कि "आनंदमठ" (दिसंबर, 1882) की ख्याति 'वंदेमातरम्' गीत (रचनाकाल 1876) के कारण है, क्योंकि यह गीत उस उपन्यास का मूल संदेश है। इस गीत को पहली बार 1896 के कांग्रेस के अधिवेशन के मौके पर 35 वर्षीय युवा कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने मंच से सस्वर गाया था। हजषरों क्रांतिकारी इसे गाते हुए फांसी चढ़ गए या गोलियां खाकर शहीद होते रहे! नामवरजी लिखते हैं कि 'आनंदमठ' में जहां-जहां "तत्कालीन मुसलमान शासकों के विरुद्ध संतान दल की कटूक्तियां हैं, उन्हें भी स्वाधीनता संग्राम के प्रथम सेनानियों ने अंग्रेज शासकों के विरोध में ही ग्रहण किया और इस प्रकार उन्हें देशभक्ति और देशमुक्ति के मूल संदेश को ग्रहण करने में कोई भ्रम नहीं हुआ। स्वाधीनता सेनानियों की 'आनंदमठ' के मूल कथ्य की यह समझ वस्तुतः 'आनंदमठ' के समग्र अर्थ का अभिन्न अंग है और इस रूप में 'आनंदमठ' के किसी भी मूल्यांकन में इस ऐतिहासिक अर्थ की अवहेलना अवैज्ञानिक है।" दरअसल, तब, 'वैज्ञानिक' समाजवाद में अपनी हजषरों क्रांतिकारी इसे गाते हुए फांसी चढ़ गए या गोलियां खाकर शहीद होते रहे! भक्ति की दुंदुभियां बजाने वाले अनेक 'वाम' अवसरवादी ऐसी ही अनैतिकता का जयघोष

कर रहे थे!

'आनंदमठ' के धारावाहिक छपने के बाद 1882 में प्रथम संस्करण के अंतर्गत जहां-जहां 'अंग्रेज' शब्द आया, दूसरे संस्करण (1883) में उसकी जगह बंकिमचंद्र ने 'यवन' तथा इसी अर्थ के वाचक ऐसे शब्द रख दिए जिनसे 'मुसलमान' का भ्रम होता है। नामवर जी के शब्दों में "प्रसंग से स्पष्ट है कि शब्द-परिवर्तन के बावजूद वे सभी शब्द वस्तुतः अंग्रेज का ही अर्थ द्योतित करते हैं, क्योंकि संतान दल का संघर्ष तो अंग्रेजों से ही होता है, मुसलमान शासक तो इस प्रसंग में कहीं सामने आते ही नहीं।" वे मानते हैं कि यह परिवर्तन "निश्चय ही अंग्रेज सरकार के संसार से बचने के लिए किया गया था। उपन्यास के आरंभिक पाठकों की समझ को दाद देनी चाहिए कि उन्होंने इन परिवर्तनों में निहित लेखक के अभिप्राय को सहज ही भांप लिया और इस प्रकार उन्हें सांप्रदायिक विद्वेष का भ्रम नहीं हुआ।" यहाँ फिर रामविलास जी की बात याद आती है ये निंदक वर्तमान संप्रदायवाद की रोशनी में अतीत को देखते हैं।

जब ख़ुद नामवरजी को आज रामविलास शर्मा हिंदुत्व-प्रेमी, ऋग्वेद-पूजक, दयानंद से ज़्यादा ख़तरनाक आर्षसमाजी और संघ-परिवार के हाथ मजबूत करने वाले लगने लगे हैं, तो बंकिम, भारतेंदु और प्रेमचंद के ये मतिहीन निंदक बेचारे तो वैसे ही क्षमा करने योग्य हैं : हे ईश्वर! इन्हें क्षमा करना, ये नहीं जानते..पर नामवरजी जैसे बहुज्ञानी जानकार को 'अनजान' कहने का दुस्साहस भला किसमें होगा! अंत में, बात पुनः रामविलास जी की ही दोहरानी होगी ऐसे व्याख्याकारों की व्याख्या में या तो उनके अपने समय के राजनीतिक-सामाजिक परिवेश की भूमिका दिखाई पड़ती है, या फिर वे जानते-बूझते अवसरवाद की वैतरणी में आनंदमठ डूबते-उतरते किल्लोल करते नज्द आते हैं!

प्रेमचंद और भारतीय समाज / नामवर सिंह / राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य-250/-

बी-13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट्स, वसुंधरा एनक्लेव, दिल्ली-110096, मो. 9891250940

हिंदी आलोचना के आरंभ का पुनर्पाठ

प्रभाकर सिंह

हि

दी आलोचना आज के दौर में कुछ समकालीन विमर्शों और समीक्षाओं तक ही सिमटकर रह गई है। समकालीन रचनात्मकता के बरक्स आज

आलोचना की समृद्ध परंपरा और पृष्ठभूमि पर पुनर्खवचार कम ही हो रहा है। युवा आलोचक अभिषेक रौशन की पुस्तक 'बालकृष्ण भट्ट और आधुनिक हिंदी आलोचना का आरंभ' इस कमी को पूरा करती है और आलोचना के नए द्वार खोलती है। प्रस्तुत पुस्तक में हिंदी आलोचना की पृष्ठभूमि, भारतेंदुयुगीन आलोचना का परिदृश्य, भाषा संबंधी विवाद और बालकृष्ण भट्ट के आलोचनात्मक प्रतिमानों एवं परवर्ती हिंदी आलोचना पर उसके प्रभावों की छानबीन की गई है।

भारतेंदु युगीन हिंदी आलोचना, कविता के साथ गद्य की अन्य विधाओं के साथ सामाजिक-साहित्यिक संदर्भों में विकसित होती है। उस युग में आलोचना की सामाजिकता का सबसे प्रखर रूप 'बालकृष्ण भट्ट, के आलोचना कर्म में दिखाई देता है। उनके चिंतन के केंद्र में 'जनसमूह' की चिंता है, जो परवर्ती हिंदी आलोचना का आधार भी तय करती है। उनकी इसी आलोचना दृष्टि के कारण अभिषेक उन्हें हिंदी आलोचना के आरंभ का नायक कहते हैं, 'बालकृष्ण भट्ट के चिंतन में 'राजसमूह' नहीं 'जनसमूह' है जो उनके और परवर्ती साहित्य के सरोकार को प्रभावित ही नहीं प्रकाशित भी करते हैं। बालकृष्ण भट्ट हिंदी आलोचना के आरंभ के नायक हैं। वे हिंदी आलोचना के लिए वातावरण और परंपरा का निर्माण कर साहित्य और समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारी और प्रतिबद्धता का बखूबी निर्वाह करते हैं।'

किंतु हिंदी साहित्य के इतिहास और आलोचना-ग्रंथों में बालकृष्ण भट्ट की सजग और प्रतिबद्ध आलोचना-दृष्टि का मूल्यांकन प्रायः उपेक्षित रहा जिसके वे हकदार थे। लेखक बालकृष्ण भट्ट और उनकी आलोचना का सही मूल्यांकन न होने के कारण आज के 'सुविधा संचयवादी माहौल' को दोषी मानता है जिसकी गिरफ्त में हिंदी आलोचना भी है।

'आलोचना की संस्कृति' का निर्माण रचना, पाठकीय चेतना और रचना के सामाजिक अस्तित्व से तय होती है, जो आलोचक रचना और समाज के आपसी संबंध की पड़ताल युगीन परिस्थितियों एवं भविष्यगत संभावनाओं के साथ करता है वही सफल आलोचक होता है और परवर्ती आलोचना को प्रभावित भी करता है। यही आलोचना मनुष्य के संघर्षों और जीवन मूल्यों के साथ अपना सरोकार स्थापित कर पाती है। आलोचना के इसी रूप



को 'सच्ची समालोचना' का दर्जा देते हुए समीक्ष्य पुस्तक में लेखक का कहना सही है कि, "जहां रचनाकार अपने समय और समाज से जुड़ा होता है वहीं आलोचक अपने समय और समाज के साथ-साथ रचना के समय और समाज से जुड़ा है। एक रचना द्वारा निखमत लोक, दूसरा आलोचक का लोक जिसमें वह जी रहा है। इन दोनों लोकों की टक्कर में ही 'सच्ची समालोचना' पैदा होती है। आलोचक रचना के साथ-साथ रचना की परंपरा और परिवेश के प्रति भी सजग होता है।"

बालकृष्ण भट्ट आलोचना के इन्हीं मूल्यों के पक्षधर आलोचक हैं। भारतेंदु युग में 1857 के बाद नई राजनीतिक चेतना ने दस्तक दी। बालकृष्ण भट्ट ने 'आलोचना की संस्कृति' को जनमानस की समस्याओं एवं राष्ट्रीयता से जोड़ा। हिंदी आलोचना के आरंभ के इस स्वरूप की सार्थक चर्चा करते हुए लेखक ने सही लिखा है कि भट्ट जी ने हिंदी आलोचना में सबसे पहले 'साहित्य की सामाजिकता' को व्यापकता से विवेचित किया। उन्हीं के शब्दों में, "बालकृष्ण भट्ट ने हिंदी आलोचना में सबसे पहले साहित्य की सामाजिकता को रेखांकित किया।" उन्होंने लिखा, "साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है।" तब साहित्य की यह नई मान्यता ही नहीं थी, बल्कि पहली बार साहित्य को परिभाषित किया गया था। साहित्य को 'राजदरबार' से नहीं 'जनसमूह' से जोड़ने की उद्घोषणा साहित्य की ही नहीं 'आलोचना की नई भूमि' तैयार करती है।

प्रेमघन व भारतेंदुजी की तुलना में बालकृष्ण भट्ट को हिंदी आलोचना का आरंभकर्ता क्यों माना जाए? इस पक्ष में अभिषेक ने कई महत्वपूर्ण उदाहरणों द्वारा अपनी बात



की है। उन्होंने प्रेमघन और बालकृष्ण भट्ट द्वारा लाला श्रीनिवास दास के नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना का उदाहरण देते हुए सिद्ध किया है कि प्रेमघन की तुलना में भट्टजी की आलोचना—दृष्टि ज्यादा प्रखर एवं आधुनिक है। लेखक की इस बात से सहमत हुआ जा सकता है कि, "बालकृष्ण भट्ट और प्रेमघन की तुलना करने पर यह स्पष्ट रूप से जाहिर होता है कि बालकृष्ण भट्ट का आलोचनात्मक विवेक ज्यादा प्रखर है। बालकृष्ण भट्ट की 'संयोगिता स्वयंवर' की सच्ची समालोचना सिर्फ संयोगिता स्वयंवर नाटक की आलोचना नहीं है बल्कि इसमें साहित्य से जुड़े अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया गया है। बालकृष्ण भट्ट हिंदी के प्रथम आलोचक अपने आधुनिक दृष्टिकोण के कारण हैं। वे अपने युग के होते हुए भी अपने युग से आगे हैं।"

भारतेंदु युगीन आलोचकों में बालकृष्ण भट्ट शास्त्रीय परंपरा से अलग लोक और समाज के दायरे में अपने आलोचनात्मक प्रतिमान निखरते करते हैं, जिससे आलोचना की नई राह खुलती है जिसमें साहित्यिकता और सामाजिकता दोनों का संतुलन है। आलोचना के अपने सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों रूपों में वह इस कसौटी पर ही अपने आलोचनात्मक प्रतिमान बनाते हैं। 'साहित्य को जनसमूह के हृदय का विकास' कहने वाले बालकृष्ण भट्ट की इसी सजग आलोचना—दृष्टि के बारे में लेखक का कहना सही है कि, "बालकृष्ण भट्ट साहित्य और समाज के आपसी रिश्ते की बात करते समय काफी सजग हैं। उनका ध्यान साहित्य की सामाजिकता पर है।

एक तरफ साहित्य को समाज से जोड़ना, दूसरी ओर उसकी साहित्यिकता की रक्षा, यह संतुलन ही साहित्य को साहित्य बनाता है।"

'समकालीन भाषा संबंधी विवाद और बालकृष्ण भट्ट' नामक अध्याय में लेखक ने बालकृष्ण भट्ट के भाषा संबंधी चिंतन के गुण—दोषों की व्याख्या की है। बालकृष्ण भट्ट के निबंध 'भारतवर्ष की जातीय भाषा' का हवाला देते हुए लेखक जहां उनके भाषा चिंतन के जातीय स्वरूप और साधारण भाषा की उनके द्वारा की गई पक्षधरता की प्रशंसा करता है वहीं 'हिंदी—उर्दू भाषा विवाद' एवं 'खड़ी बोली काव्य—भाषा' के संबंध में बालकृष्ण भट्ट की खबर तो लेता है किंतु उनके इस दृष्टिकोण को युगीन अंतर्खरोध का प्रतिफलन ही कहता है जो लेखक के भट्ट जी के प्रति व्यामोह को ही दर्शाता है, "बालकृष्ण भट्ट में भाषा के संबंध में सुलझे हुए दृष्टिकोण के बावजूद अंतर्खरोध है। यह अंतर्खरोध उस युग का अंतर्खरोध है जिससे बालकृष्ण भट्ट भी नहीं बच पाए।"

हिंदी आलोचना के विकास में बालकृष्ण भट्ट की भूमिका उनके समकालीन आलोचकों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। वे परवर्ती हिंदी आलोचना को प्रभावित ही नहीं करते आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना का आधार भी उनके यहां खोजा जा सकता है। 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' नामक शीर्षक से अपना प्रसिद्ध निबंध लिखकर साहित्य को व्यापक जनसमूह से जोड़कर उसकी व्याख्या की, इसके बाद आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'साहित्य' को 'ज्ञानराशि का

संचित कोश' कहा किंतु आचार्य शुक्ल के हिंदी साहित्य का इतिहास में भट्ट जी के 'साहित्य' की परिभाषा का विकास ही दिखाई देता है जब वह कहते हैं कि "प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है।" जिसे डॉ. नंदकिशोर नवल ने अपनी पुस्तक 'हिंदी आलोचना का विकास' में रेखांकित किया है। बालकृष्ण भट्ट की आलोचना के परवर्ती आलोचना पर पड़ने वाले इन्हीं प्रभावों की पड़ताल करते हुए लेखक 'बालकृष्ण भट्ट और परवर्ती हिंदी आलोचना' नामक अध्याय में स्पष्ट रूप से कहता है, "शुक्ल जी के यहां 'जनसमूह के हृदय का विकास', 'जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब' हो जाता है। यह बालकृष्ण भट्ट की साहित्य संबंधी मान्यता का 'परिष्कृत' रूप है।" आलोचना में 'साधारण जनता के भावों की अभिव्यक्ति' दोनों को आपस में जोड़ती है। "शुक्ल जी ने अपने आलोचना कर्म में जनता का, उसके स्वाभिमान और स्वत्व का हमेशा ख्याल रखा है। उनकी यही दृष्टि उन्हें बालकृष्ण भट्ट से जोड़ देती है। दोनों विद्वानों के यहां साधारणता, सहजता और स्वाभाविकता को गजब का महत्त्व मिला है।"

समीक्ष्य पुस्तक के परिशिष्ट में नए ढंग से बालकृष्ण भट्ट के 'सच्ची समालोचना' और 'उपन्यास' नामक निबंध, प्रेमघन का आलोचनात्मक निबंध 'संयोगिता स्वयंवर और उसकी आलोचना' तथा काशी प्रसाद जायसवाल के 'हिंदी उपन्यास लेखकों को उलाहना' जैसे निबंधों को स्थान दिया गया है जिससे पाठक स्वयं इन मूल निबंधों को पढ़कर बालकृष्ण भट्ट और प्रेमघन की आलोचना दृष्टि का मूल्यांकन कर तुलना कर सकें कि किसकी आलोचना—दृष्टि ज्यादा प्रखर एवं आधुनिक है। अभिषेक रौशन की यह पुस्तक 'बालकृष्ण भट्ट और आधुनिक आलोचना का आरंभ' को ठीक से प्रस्तुत करती है। इसलिए उनके इस प्रयास की सराहना की जा सकती है।

बालकृष्ण भट्ट और आधुनिक हिंदी आलोचना का आरंभ / अभिषेक रौशन / अंतिका प्रकाशन, सी-56, यूजीएफ-4, शालीमार गार्डन, एक्सटेंशन-2 गाजियाबाद-201005, मूल्य-390.00

हिंदी विभाग, का.हि.वि.वि., वाराणसी (उ.प्र.)
मो. 09450623078

जीवनी मधुमक्खी गंदे स्थानों पर नहीं बैठती

कांतिकुमार जैन

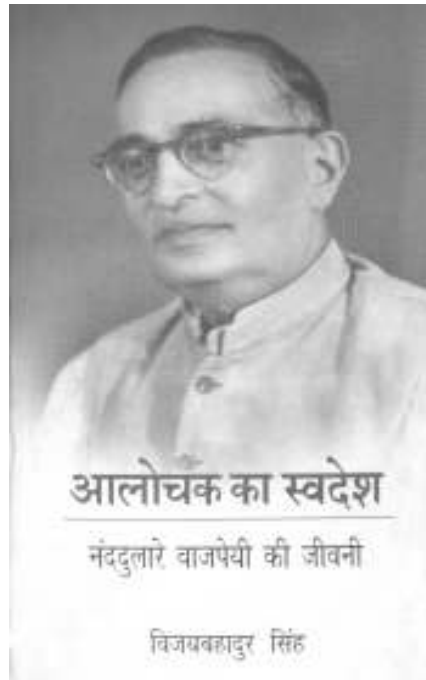
अ

पने मित्रा और सतीर्थ डॉ. विजय बहादुर सिंह लिखित 'आलोचक का स्वदेश' शीर्षक आचार्य नंददुलारे वाजपेयी की जीवनी की समीक्षा लिखते हुए मुझे मिर्जा गशलिब का वह शेर बराबर याद आता रहा है जिसमें वे कहते हैं□

'ईमां मुझे रोके है तो खींचे है मुझे कुफ्र काबा मेरे पीछे है, कलीसा मेरे आगे।' यह समीक्षा लिखते हुए मैं इस अहसास से मुक्त नहीं हो पा रहा हूँ कि यदि मैं जीवनी की उन्मुक्त सराहना करूंगा तो मित्रा वत्सलता का दोषी माना जाऊंगा और यदि किंचित् भी नुखस निकालूंगा तो मुझ पर लेखकीय ईर्ष्या का आरोप लगते देर नहीं लगेगी। इसलिए मैंने तय किया कि कृतिकार को भूलकर मैं कृति पर ही अपना ध्यान केंद्रित करूँ। मैं जानता हूँ कि कृतिकार से तटस्थ रहकर केवल कृति की समीक्षा करना लगभग असंभव है किंतु 'जो असंभव है उसी पर आंख मेरी'।

छायावाद के प्राण प्रतिष्ठापक, हिंदी साहित्य की बीसवीं शताब्दी के कृती आलोचक और तेजस्वी विचारक आचार्य नंददुलारे वाजपेयी पर बहुत नहीं लिखा गया है। जो लिखा भी गया है अधिकांशतया उनके शिष्यों एवं परिवार जनों द्वारा लिखा गया है। रामाधार शर्मा ने सागर विश्वविद्यालय के एम.ए. के छात्रा के रूप में सन् 53-54 में वाजपेयी जी की समीक्षा पद्धति पर पहली पुस्तक लिखी थी। डॉ. प्रेमशंकर और आचार्य राममूखत त्रिपाठी ने भी वाजपेयी जी पर अविनिबंध लिखे हैं पर ये दोनों विवरणात्मक हैं और प्रारंभिक सूचनाओं से आगे नहीं बढ़ते। ये दोनों, जैसा कि सभी जानते हैं, वाजपेयी जी की शिष्य मंडली के

सदस्य हैं। उमेश मिश्र ने वाजपेयी जी की जीवनी लिखी है और एक परिवार जन के रूप में उनके व्यक्तिगत जीवन के बहुत से तथ्य एकत्रा किए हैं। हिंदी साहित्य सम्मेलन पत्रिका का एक अंक भी वाजपेयी जी पर एकाग्र है। इधर हाल ही में डॉ. रामरतन भटनागर की एक पुस्तक 'आचार्य नंददुलारे वाजपेयी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' शीर्षक से प्रकाशित हुई है। डॉ. भटनागर सागर में वाजपेयी जी की अध्यक्षता के दिनों में उनके सहयोगी थे। उन्होंने समय-समय पर वाजपेयी जी पर जो निबंध लिखे थे, वे ही डॉ. दिनेश द्विवेदी ने पुस्तक के रूप में संकलित कर दिए हैं। किंतु इन तमाम पुस्तकों में वाजपेयी जी जैसे प्रखर एवं युगदृष्टा व्यक्ति की सांगोपांग जीवनी, मौलिक आलोचना पद्धति, निर्भीक संपादन कला, प्रबुद्ध अध्यापन कौशल एवं समसामयिक



संदर्भ पर उनकी व्याप्त दृष्टि के विवेचन का अभाव है। वाजपेयी जी जैसे आलोचक के संदर्भ में हिंदी का यह रवैया कतई सराहनीय नहीं है। ऐसी स्थिति में डॉ. विजय बहादुर सिंह जैसे रचनावली-संपादन-कुशल आलोचक की 'आलोचक का स्वदेश' जैसी जीवनी महत्त्वपूर्ण एवं स्वागतेय ही कही जाएगी। विजय बहादुर वाजपेयी जी के सुयोग्य शिष्य ही नहीं रहे हैं, वे बहुत दिनों तक उनके निजी सचिव भी थे और वाजपेयी जी के जीवन, साहित्य एवं प्रशासनिक क्षेत्रा के अनेक प्रसंगों के अंतरंग एवं प्रामाणिक साक्षी भी रहे हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि 'आलोचक का स्वदेश' जैसी जीवनी लिखते हुए वे निरंतर एक शोधक की प्रामाणिकता एवं तल्लीनता से विरत नहीं होते। यही कारण है कि विजय बहादुर द्वारा लिखित यह जीवनी बहुदिशागामी तो है ही, शोधपरक, तत्त्वान्वेषी और सुविचारित भी है। पहली बार वाजपेयी जी जैसे युगांतकारी आलोचक और अभिनव जीवन दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण, विकास यात्रा और जीवन संघर्षों का व्यापक राष्ट्र परिपार्श्व में अद्भुत लयात्मकता एवं गतिशीलता से विवेचन करने वाली यह पुस्तक सहज ही हिंदी के जीवनी साहित्य में बहुत कुछ जोड़ती है। हिंदी में जीवनी विषयक पुस्तकों का विशेषकर साहित्यकारों की जीवनी विषयक पुस्तकों का अभाव रहा है। कोई एक अमृतराय, कोई एक रामविलास शर्मा, कोई एक विष्णु प्रभाकर ही इस संदर्भ में याद आते हैं। अब इस शृंखला में विजय बहादुर सिंह जुड़े हैं। वाजपेयी जी को कोई कितना भी जानने का दावा करे, विजय बहादुर उस जानकारी में कुछ-न-कुछ इजाफा करते ही हैं। जीवनीकार को जीवनी लिखते समय केवल

एक तथ्य संग्राहक ही नहीं होना चाहिए। यदि वह एक इतिहासकार, एक समाजशास्त्री, एक आलोचक और एक भाषा शिल्पी के उपकरणों से लैस नहीं है तो वह एक सफल और पठनीय जीवनी लिख ही नहीं सकता। विजय बहादुर ने एक जीवनीकार के सभी काम्य उपकरणों को स्वायत्त कर लिया है। 'आलोचक का स्वदेश' गुरुऋण से उऋण होने का उपक्रम तो है ही, लेकिन यह पाठक बताएंगे इस जीवनी में वस्तुपरकता या तटस्थता कितनी है।

जीवनी वैसे तो किसी एक व्यक्ति को केंद्र बनाकर उसके जन्म से लेकर उसके अवसान तक का इतिहास होती है किंतु कुशल जीवनीकार केंद्रीय व्यक्ति के परिवेश, उससे संबद्ध छोटे-बड़े पात्रों, संस्थाओं, स्थानों आदि का भी विवरण प्रस्तुत करने से नहीं चूकता। आधुनिक शब्दावली में कहें तो जीवनी उस विशाल एवं भव्य मॉल की तरह होनी चाहिए जहां आप जाते तो हैं जयपुरी रजाई या कलाई घड़ी खरीदने के लिए किंतु वहां विभिन्न स्टॉलों पर सजे उपकरणों से इतने आकर्षण एवं प्रभावित हो जाते हैं कि अनायास ही आप एक सुंदर पेन, एक बढ़िया अलबम या एक पुष्पगुच्छ भी खरीदने का मोह संवरित नहीं कर पाते। विजय बहादुर सफल जीवनी लेखन के इस कौशल से परिचित हैं अतः 'आलोचक का स्वदेश' को वे केवल वाजपेयी जी की जीवनी ही नहीं रहने देते वरन् वे उसे वाजपेयी जी के परिवेश, उनसे जुड़े रहने वाले व्यक्तियों, संस्थाओं आदि के नखचित्रों से भी सजाते चलते हैं। 'आलोचक का स्वदेश' अनायास अपने दौर की साहित्य वीथिका भी है और पत्राकार दीर्घा भी। वह मैडम तुषाद का मुख्त संग्रहालय भी है और राष्ट्रीय घटनाओं का डोसियर भी। नाटक में जैसे स्थान, काल और पात्रों की अन्विति आवश्यक होती है, वैसे ही 'आलोचक का स्वदेश' में हजारीबाग, कोलकाता, वाराणसी, सागर, उज्जैन, पूना, केरल जैसे स्थानों के विवरण भी हैं और स्वतंत्रतापूर्व एवं परवर्ती काल के तमाम राष्ट्रीय एवं साहित्यिक संदर्भ भी। पिता, मां, गुरु, सहयोगी, शिष्य, मित्रा, विरोधी पात्रा पृष्ठ-पृष्ठ पर वाजपेयी जी की जीवनी के तानों-बानों का वितान रचते हैं। संदर्भों का जितना प्रचुर भंडार जिस जीवनी में होगा वह उतनी ही पठनीय एवं तृप्तिदायक

होगी। 'आलोचक का स्वदेश' एक ऐसे प्रिज्म की तरह है जो बराबर सतरंगी छटा बिखेरता चलता है। पुस्तक पूरी करने के बाद पाठक ज्यादा विज्ञ एवं अनुभवी हो जाता है। यह सब सिद्ध करने में विजय बहादुर की गद्य भंगिमा बहुत काम आती है। 'आलोचक का स्वदेश' का गद्य इतना आकर्षक और व्यंजक है कि पाठक को लगता है कि वह ऐतिहासिक उपन्यास के पृष्ठों से गुजर रहा है। विजय बहादुर कवि, आलोचक एवं पत्राकार हैं किंतु उनके इन विविध रूपों को किसी एक ही कृति के माध्यम से जानना हो तो वह पुस्तक है 'आलोचक का स्वदेश'। यह पुस्तक आलोचक का स्वदेश ही नहीं, विजय बहादुर सिंह के गद्य का स्वदेश भी है। वे इस जीवनी के केंद्रीय व्यक्ति का ही नहीं, सामान्य स्थानों, कालखंडों, आंदोलनों एवं पात्रों के ऐसे नखचित्रा उकेरते हैं कि सब कुछ पाठक की स्मृति का अंश बन जाते हैं। सागर नगर का एक दृश्य-बिंब है □ "घाटियों और पठारों वाली इस धरती पर वृत्ताकार विस्तार लिए यहां सचमुच एक गहरा जलाशय है। शहर के मुहाने से लगा हुआ किंतु विश्वविद्यालय और शहर के ऐन बीचों-बीच एक मनोरम सरोवर।" गुजरते हुए काल की व्यंजना के लिए वे नाटकीय शैली का आश्रय लेते हैं □ "इसी वातावरण में श्री वाजपेयी आचार्य रामचंद्र शुक्ल की कठोर सीमाओं को इंगित करते हैं। जैसे वे कह रहे हों □ हे आचार्य, अब तुम्हारा युग अवसान पर है और हिंदी आलोचना का रथ आगे बढ़ चुका है।"

विजय बहादुर इस जीवनी में स्थान, काल और पात्रों से गुजरते हुए वाजपेयी जी की आलोचकीय प्रतिभा के विकास का रजत तंतु सदैव संभाले रहते हैं। स्थान, काल और पात्रा के सूक्ष्म, संक्षिप्त एवं आकर्षक विवरणों से औपन्यासिकता की सृष्टि होती है किंतु जीवनीकार जानता है कि उसका संकल्प जीवनी लिखना है। जीवनी भी उतनी नहीं जितनी वाजपेयी जी की विचार यात्रा के प्रखर, प्रखरतर एवं प्रखरतम तापों की गाथा कहना। इस ताप की कई अर्थछवियां हैं। वाजपेयी जी की इस जीवनी को आधार बनाकर कोई चाहे तो वाजपेयी जी पर अत्यंत रोचक एवं विशद उपन्यास भी लिख सकता है। संक्षिप्त भूमिका में जीवनीकार ने यह स्पष्ट किया है कि

"हिंदी के आलोचक आचार्य नंददुलारे वाजपेयी की यह जीवनी बीसवीं सदी के तीसरे दशक से सातवें दशक के साहित्यिक और सांस्कृतिक परिदृश्य तक फैली हुई एक युगांतरकारी आलोचक इस सृजन समय से अपना असाधारण संवाद किस रूप में स्थापित करता है, उसे प्रत्यक्ष करना मेरे इस लेखन का अभिप्रेत है।" अपने इस अभिप्रेत को सिद्ध करने में जीवनीकार ने वाजपेयी जी की समसामायिक राष्ट्रीय, अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों और समस्याओं पर विहंगम दृष्टि दौड़ाई है। साथ ही आजादी से पहले और बाद में उन अनेक असाधारण सर्जकों के साथ उनकी अंतःक्रिया को भी जांचा-परखा है जो आलोचक के स्वदेश के आवासी के निर्माण के लिए उत्तरदायी कहे जा सकते हैं। फलतः हमें एक ऐसी जीवनी पढ़ने को मिलती है जो वाजपेयी जी की वैचारिक विकास यात्रा तो है ही, उनके समय का साहित्यिक, सांस्कृतिक और वैचारिक इतिहास भी है।

'आलोचक की जीवनी' के उन प्रकरणों में जीवनीकार की कलम सबसे अधिक रमी है जहां वाजपेयी जी अपने विरोधियों, प्रतिस्पर्धियों अथवा अशुभेच्छियों को खड़ाहस्त होकर ललकारते हैं। चाहे वह अपने मित्रा एवं आराध्य कवि 'निराला' को स्थापित करने का प्रसंग हो अथवा 'हंस' का आत्मकथा अंक विषयक विवाद हो, चाहे वह अपने कुलपति डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी से ठना शीतयुद्ध हो, चाहे वह नामवर को सागर से विस्थापित करने का मुद्दा हो, विजय बहादुर वाजपेयी जी की जो छवि अंकित करते हैं, वह एक क्रूसेडर की है। इस जीवनी में वाजपेयी जी के व्यक्तित्व का योद्धा रूप ही सर्वाधिक प्रखर एवं अर्थवाही है। 'भारत के दिनों का महाभारत', इसका सबसे प्रतिनिधि प्रमाण है। यूं भी विजय बहादुर ने आलोचना के स्वदेश के चरितनायक की जीवनी धर्मयुद्ध के एक ऐसे नायक के रूप में लिखी है जो अपने छोड़े गए युद्ध की नैतिकता, स्वीकार्यता एवं उपयोगिता के प्रति पूरी तरह आश्वस्त है। अपने क्रूसेडर के चरित्रा के दुर्बल अथवा विचलित पक्षों पर वे यदाकदा ही ध्यान देते हैं, वह भी अत्यंत संकोच के साथ। अपात्रों के प्रति वाजपेयी जी के ममत्व एवं संरक्षणभाव का वे उल्लेख तो करते हैं किंतु उसे उनका

सद्गुण बताकर ही। वास्तव में इस जीवनी को लिखते हुए जीवनीकार के पास एक ऐसी ब्रीफ है जिसे हर हाल में विजयी बनाना उन्हें अपना नैतिक और लेखकीय दायित्व लगता है। यदि इसी बात को एक अन्य बिंब के माध्यम से प्रस्तुत करना हो तो मैं कहूंगा कि विजयबहादुर ने अपने गुरु की जीवनी एक मधुमक्खी की तरह लिखी है जो कभी गंदे स्थानों पर बैठती ही नहीं। इस जीवनी को पढ़कर वाजपेयी जी द्वारा साहित्यकारों के मूल्यांकन में किए गए पक्षपात, प्रशासन में किए गए पूर्वग्रह जैसे संदर्भों को छोड़ना ही जीवनीकार को उचित लगा है अन्यथा वे कविवर अंचल, उपन्यासकार भगवती प्रसाद वाजपेयी के प्रति उसके अनुराग, मधुशाला के बच्चन के प्रति उसकी अवमानना दृष्टि और नामवर के प्रति उसकी असहिष्णुता का भी प्रयोगशाला परीक्षण करते। वाजपेयी जी ने हिंदी साहित्य की बीसवीं शताब्दी की अवधारणा तो प्रस्तुत की किंतु इस अवधारणा की सम्यक् स्थापना में उनसे कहां-कहां कैसी चूकें हुईं, इसका भी परीक्षण उन्हें करना चाहिए था। किंतु जो मधुमक्षिका को अपने लेखन का आदर्श मानेगा, उससे निर्मम विवेचना की अपेक्षा करना खामख्याली ही मानी जाएगी। वाजपेयी जी के प्रगतिशील विचारों का पुस्तक में इतनी बार उल्लेख हुआ है कि यदि वाजपेयी जी की पहचान एक सौष्ठववादी आलोचक या रूपवादी विचारक की न होती तो हम उन्हें सहज ही एक प्रगतिशीलता विचारक कह सकते थे किंतु वाजपेयी जी प्रगतिशील एवं प्रगतिवाद में अंतर करते हैं। वे किसी पारिभाषिक अथवा रूढ़ अर्थ में प्रगतिशील नहीं हैं। उनकी प्रगतिशीलता जीवन और जगत् के उन तमाम अग्रगामी और स्वस्थ विचारों की पक्षधर है जिसका अनुगमन कर दुनिया वहां पहुंची है जहां वह आज है। प्रगतिशीलता विषयक विचारों में तरुण एवं प्रौढ़ वाजपेयी के विचारों में एक अन्विति है। 27 मार्च 1931 को 'फांसी का असर' शीर्षक अग्रलेख में पत्राकार वाजपेयी जी ने लिखा था कि "जनता ही वास्तविक मापदंड है। असली प्रश्न आख्यक स्वतंत्रता का है।" वाजपेयी जी राष्ट्रीय आंदोलन में देश के अशिक्षित किसानों और मजदूरों की महत्ता से अपरिचित नहीं हैं किंतु वे यह लिखना भी नहीं भूलते कि

"प्रधान प्रश्न राजनीतिक स्वतंत्रता का नहीं है क्योंकि राजनीतिक स्वतंत्रता में तो शिक्षित जन का ही अधिक लाभ है।"

वाजपेयी जी की प्रगतिशीलता संकीर्ण प्रगतिशीलता नहीं है। जहां-जहां विचार रूढ़िग्रस्त हैं, साहित्य पुरातन के ब्यामोह में जकड़ा हुआ है, वाजपेयी जी वहां-वहां रूढ़ियों और पुरातनता के उन्मूलन में कटिबद्ध हैं। विजय बहादुर ने यह इंगित किया है कि वाजपेयी जी की प्रगतिशीलता को अगर समझना हो तो उनके इस कथन को निरंतर ध्यान में रखना होगा कि "मेरे लिए साहित्य और समाज की प्रगति द्वंद्वत्मक नहीं, धारावाहिक है। अतएव मैं प्रसाद और प्रेमचंद, निराला और पंत की निष्ठाभंगी रागिनी को और जनवादी स्वर को सर्वोपरि मानता हूं।" अपने दमदार प्रतिपक्षियों के प्रति वाजपेयी जी का रवैया बेहद आक्रामक रहा है। ऐसे अवसरों पर उनकी भाषा में प्रचंडता भी कम नहीं है। विजय बहादुर अपने गुरु के पक्षपातों को जानते न हों, ऐसा नहीं है किंतु वे एक चतुर वकील की तरह तर्क देते हैं कि "अब कोई रामचंद्र शुक्ल से यह पूछने क्यों नहीं आगे आता कि 37-38 के बाद आने वाले नगेंद्र काल के विराट में भूत हो जाने वाले भुवनेश्वर मिश्र का नामोल्लेख तो आप इतिहास में करते हैं किंतु नंददुलारे वाजपेयी जैसी प्रखर प्रतिभा को लेकर इतनी बेईमानी क्यों और कैसे कर जाते हैं?" यहां हिंदी आलोचकों के पूर्वग्रह और पक्षधरता पर विचार करने का विजय बहादुर के पास प्रभूत अवसर था पर वे शुक्ल जी, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि की पक्षधरता के कारणों का मंथन करते हुए वाजपेयी जी की पक्षधरता को विस्मृत कर देते हैं। शुक्ल जी की पक्षधरता जितनी गलत या अन्यायपूर्ण थी या ऐतिहासिक बोध के अभाव की द्योतक थी उतनी ही वाजपेयी जी की भी है। वाजपेयी जी द्वारा कृष्णायनकार की प्रशंसा को विजय बहादुर क्षम्य नहीं मानते। वे इस प्रकरण में वाजपेयी जी की दुविधा को समझते हैं। मुझे याद है कि पंडित जी ने 54-55 में 'कृष्णायन' को हमारे एम.ए. के पाठ्यक्रम में निर्धारित कर दिया था पर पढ़ाया उसका एक छंद भी नहीं था। हमारे पूछने पर उन्होंने कहा था कि 'कृष्णायन' को पाठ्यक्रम में निर्धारित करना

मेरी व्यावहारिक विवशता है। आप लोग उसे न पढ़ें, उससे कोई प्रश्न नहीं पूछा जाएगा। ऐसे ही विवश क्षणों में उन्होंने तत्कालीन मंत्री दुर्गाशंकर मेहता का उपन्यास 'अनबुझी प्यास' एम.ए. के पाठ्यक्रम में 'गोदान' और 'त्यागपत्र' के साथ निर्धारित कर दिया था।

'आलोचक का स्वदेश' पर विचार करते हुए यदि जीवनी के अंतिम पृष्ठों के चलताऊ तौर-तरीके का जिक्र न किया जाए तो मुझ पर मैत्री धर्म के निर्वाह का आरोप लगाया जा सकता है। जैसा कि सरिता विज्ञानी बताते हैं कि बड़ी-से-बड़ी नदियां अपने गंतव्य तक पहुंचते-पहुंचते श्लथ एवं कर्दमयुक्त हो जाती हैं वैसे ही 'आलोचक का स्वदेश' का लेखक भी पुस्तक का समापन करते-करते थका हुआ और घर पहुंचने की जल्दी में लगता है अन्यथा 'कुलपति बनने की त्रासदी' लिखते हुए वह इतनी हड़बड़ी में न होता। विक्रम विश्वविद्यालय का कुलपतित्व वाजपेयी जी के जीवन का सबसे त्रासद प्रसंग है यहां वे न अपनी तेजस्विता कायम रख सकें और न ही अपने मिशन में सफल ही हुए। आलोचक का अपना स्वदेश छोड़कर प्रशासन की जिस मृगभूमि में वे अभिशप्त भटकते रहे, वह सारा प्रसंग वाजपेयी जी की तेजस्विता और गरिमा से मेल नहीं खाता। यहां वे अपने छुटभैये संरक्षक राजनेताओं पर आश्रित हैं और उठापटक विशारद स्थानीय नेताओं के टुच्चे हथकंडों की काट में उलझे हुए हैं। पुस्तक का समापन करते हुए जीवनीकार कहता है कि "उज्जैन की लड़ाई बिल्कुल भिन्न किस्म की थी। वह आरपार और आमने-सामने की लड़ाई न थी। इसका चरित्र बेहद औसत, क्षुद्र और घटिया था। एकाध जाने-माने हिंदी कवि जो अपना संबंध 'निराला' से भी जोड़ते और इसी नाते कुलपति वाजपेयी को जब-तब प्रणाम निवेदित करने बंगले पर आया करते पर बंगले के बाहर षड्यंत्रकारियों की मदद करते और उनकी योजनाओं को हवा देते।" विजय बहादुर पता नहीं क्यों उज्जैन की पूरी त्रासदी के खलनायक का नाम नहीं लेते। इस औसत, घटिया और क्षुद्र लड़ाई के प्रतिपक्ष की निशानदेही करने के लिए क्या केवल 'एकाध जाने-माने हिंदी कवि जो अपना संबंध निराला से भी जोड़ते' कहना पर्याप्त है? सारा बाग जानता है कि यह कवि कौन था? जिस बात को छिपाना न संभव है,

पक्ष—विपक्ष : युग बोध की अनुभूति

अजित पुष्कल

न आवश्यक, उस बात को विजय बहादुर जी पता नहीं क्यों छिपाना चाहते हैं? क्या सिंहत्व का बोध, क्या उन्नावत्व की जवार चेतना, क्या किसी किए गए उपकार का लिहाज? फिर वाजपेयी जी जैसे प्रखर, तेजस्वी और 'न दैन्यं, न च पलायनम्' को अपना जीवन मंत्र मानने वाले व्यक्ति की हाहाकारी मृत्यु को 'हिंदी आलोचना का एक और युग प्रवर्तक आचार्य कुलपति पद से जुड़ी महत्वाकांक्षा की कीमत अपने प्राणों से चुकाने को बाध्य हुआ?' कहना पर्याप्त है? कोलकाता के उस षष्ठिपूखत समारोह में विजय बहादुर भी थे जिसमें वाजपेयी जी के मित्रा और हितैषी सत्यनारायण सिंह ने कहा था कि कुलपति बनने का वाजपेयी जी का निर्णय गलत है। एक कुलपति के रूप में वाजपेयी जी शीघ्र ही भूतपूर्व हो जाएंगे किंतु एक आलोचक के रूप में वे सदैव अभूतपूर्व रहेंगे। फिर विजय बहादुर इसी पुस्तक में कुछ पृष्ठ पहले ही घोषित कर चुके हैं कि "मैं अपने शिक्षक डॉ. राममूखत त्रिपाठी की इस बात से सहमत नहीं हो पा रहा कि पंडित जी के रक्त में न जाने कहां से कुलपति बनने का जहरीला कीटाणु घुस गया।" जीवनीकार यह तो मानता है कि उज्जैन में वे हिंस्र शिकारियों के बीच फंस चुके थे। ये हिंस्र शिकारी कौन थे और उनके बीच फंसने की लाचारी क्या थी, यदि जीवनीकार इसका भी खुलासा करता तो वह वाजपेयी जी जैसे महत्वाकांक्षी और सतोन्मुख साहित्यकारों को सावधान भी करता और उनका मार्गदर्शन भी। पर हमें एक ही जीवनीकार से सब कुछ की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। वाजपेयी जी की अभी और भी जीविनियां लिखी जाएंगी और उनके लिए विजय बहादुर कुछ छोड़ देते हैं या अनावश्यक जोड़ देते हैं तो उसकी शिकायत हमें नहीं करनी चाहिए। वैसे इस जीवनी में वस्तुपरकता कम, अभ्यर्थना और प्रशस्ति के गीत ही ऊंचे स्वर में हैं। 'गाइए जगपति गणवंदन'।

आलोचक का स्वदेश : जीवनी / विजय बहादुर सिंह / अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा. लि.), 4697 / 3, 21—ए, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली—110002, मूल्य—350 /—

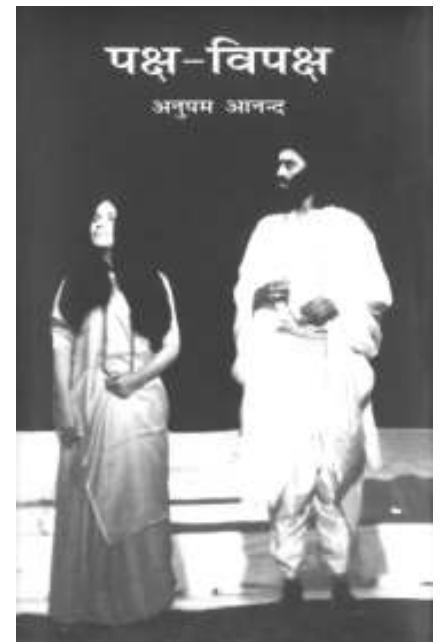
विद्यापुरम्, मकरोनिया कैंप, सागर (म.प्र.) 470004, फो. 07582—262354

‘पक्ष—विपक्ष’ एक प्रयोगधर्मी नाटक है। प्रयोग करने के पीछे जो प्रबल विचार है वह समकालीन राजनीति से उत्प्रेरित है। इसका अनुभव लेखक को जय प्रकाश नारायण के आंदोलन से प्राप्त होता है जिसका स्पष्ट उल्लेख नाटक की भूमिका में किया गया है। "सत्ता का पक्ष और प्रतिपक्ष लगभग एक जैसा होता है उनके आपसी संबंध भी मधुर होते हैं। लोकतंत्रा में जनता समझती है कि सत्ता उसी ने चुनी है प्रतिपक्ष का जनादेश भी उसका है। वास्तव में सत्ता राजनैतिक व्यवसायियों के ही हाथ में रहती है चाहे पक्ष हो या विपक्ष।" इस अनुभव को विस्तार देने के लिए लेखक ने कालिदास के नाटक 'मालविकाग्निमित्रम्' को प्रयोग का आधार बनाया है। इसमें आए प्रसंगों को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में रख नई व्याख्या के साथ रचने की कोशिश की है। इससे मूल नाटक का स्ट्रक्चर टूटा है। पात्रों में हेरफेर हुआ है और उनका आंतरिक स्वत्व भी बदला है। लेखक ने कोशिश की है कि वे कालिदास के पात्रा न रह जाएं। नाट्यशास्त्रा के अनुसार सूत्राधार तो नाटक का आलेख तैयार करता है। किंतु 'पक्ष—विपक्ष' नाटक के लेखक ने प्रारंभ में ही सूत्राधार का अपहरण दिखाकर उसको नाटक से अलग कर दिया है। यह क्यों कर हुआ? नाटक के अंत में सूत्राधार दर्शकों से स्वयं इस आशय को स्पष्ट करता है।

"हां, रसिको / आपने कौन—सा रसपान किया, / नहीं जानता / पात्रा वही थे, वातावरण वही था / न कालिदास थे न मैं था / एक दूसरा ही प्रकरण कर गया परकाया प्रवेश।"

एक संवाद में कहा गया है। "हम पात्रा नहीं, हम हैं युग की प्रवृत्तियां।" इस संवाद से

'पक्ष—विपक्ष' नाटक प्रतीक नाटक होने का आभास देने लगता है, प्रतीक नाटक के सृजन में सामयिक टकराहट की सघन ऊष्मा संवादों के उत्कर्ष और व्यंग्य से प्रकट होती है। बहुत से संकेत स्वतःस्फूर्त होते हैं जिनका अपना ही स्वरूप और भाव बोध होता है किंतु आधार कोई—न—कोई परिस्थिति ही होती है। भारतेंदु का 'भारत दुर्दशा' ऐसा प्रतीक नाटक है जिसमें नवजागरण काल की ऊष्मा के साथ आगामी राजनीति के बीज मौजूद हैं। जिसका विकास आगे चलकर होता है। किंतु इस नाटक में पक्ष—विपक्ष के बीच सत्ता की राजनीति का संघर्ष है किंतु पक्ष—विपक्ष का वर्गीय चरित्रा एक ही जैसा है जो आज की राजनीति का सच है। इस सूत्रा के आधार पर जब हम नाटक को आत्मसात करते हैं तो उसका विस्तार भी समझ में आता है और प्रयोग की कठिनाइयां भी। प्रयोग की कठिनाइयों के साथ उलझाव भी हैं जिनके कारण युगबोध



बाधित हुआ है जिसके कारण भ्रम की स्थिति भी पैदा होती है। जिसको अभिनय की श्रेष्ठता से स्पष्ट किया जा सकता है क्योंकि यह नाटक न कालिदास का नाटक है और न कालिदास के काल का नाटक है। यह सच निर्देशक के लिए चुनौती भी है।

इस नाटक का मंचन भव्य स्टेज सज्जा के बगैर प्रकाश संयोजन और संगीत रचना के आधार पर भी किया जा सकता है यदि दोनों उपकरण मंचन प्रक्रिया के अंग बना दिए जाएं। अनुपम आनंद रंग चिंतक ही नहीं निर्देशक भी हैं। आलेख में उन्होंने जो निर्देश दिए हैं उन्हें उनके संदर्भ में समझने की जरूरत है। नाटक के पृ. 58 से दो उदाहरण देना काफी होगा।

(चौपड़ का खेल चलता है। सितार पर कोई ध्वनि बज रही है। हँसी और सितार की ध्वनि एक दूसरे में घुल-मिल जाते हैं।)

(शहर से चीख पुकार का स्वर तेजी से आने लगता है। लकड़ी का दरवाजा तोड़ने का स्वर। अब और अंधेरा होता जा रहा है। मात्रा अग्निमित्रा के मुख पर एक आलोक वृत्त रह जाता है। धीरे-धीरे वह वृत्त भी छोटा होता हुआ लुप्त हो जाता है।)

नाटक के पात्रा प्रवृत्तियाँ हैं तो वस्त्रों के रंगों से उनको प्रकट किया जा सकता है। नाटक में संवादों के माध्यम से प्रजा को मुखर नहीं किया गया। उसको उसकी प्रवृत्ति के आधार पर दर्शाया गया है। वह या तो भीड़ बनकर चिल्लाती है या सिर्फ जयजयकार करती है। यह यथास्थितिवाद है या सरलीकरण? इस द्वंद्व से उबरने पर एक प्रश्न भी उभरकर आता है कि ऐसा क्यों है? अस्तित्व रक्षा के लिए जनता की अपनी भाषा नहीं बन पाई क्या? या किसी भी तरह की सामाजिक और राजनीतिक चेतना से वह लैस नहीं हो पाई? शायद जयजयकार करना, भीड़ बनकर चिल्लाना उसकी प्रमुख नियति है...। दृश्य तीन में गणदास और हरिदत्त जब अपने अपने संवाद बोलते हैं तो मंच पर जनता भीड़ की तरह बारी-बारी दोनों की ओर मुड़ जाती है, मुखर रूप से कोई प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त करती जबकि उसके जीवन के मुद्दों को लेकर राजनीति रची जा रही है। उसके मौन में भी अभिनय की अपार संभावना छिपी नज्द आती है जिसे लेखक ने निर्देशक के लिए छोड़ दिया है। किंतु उनके

ये संवाद बराबर गूँजते रहते हैं। “अग्निमित्रा के कल्याणकारी राज्य में न आवास है, न भोजन और न ही वस्त्र।” “किसी वस्तु का न तो पर्याप्त उत्पादन है न वितरण। रोगी बिना चिकित्सा के मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं।”

तथाकथित दोनों बुद्धिजीवी इन मुद्दों को लेकर आंदोलन शुरू करते हैं किंतु आंदोलन के नेतृत्व के लिए नायक ढूँढने लगते हैं।

हरगण – गणदास – चलो चलें,
अन्वेषित करें/ कोई सुदृढ़ नायक/
वृषभ स्कंध/ उन्नत ललाट/ पुष्ट भुजाएं/
सिद्ध मनोरथ/ जिसके हाथों सौंपकर/
यह आंदोलन/ हम निश्चित हो सकें।

मालविका इन्हीं दोनों की शिष्या है उसका चित्रा बनाने के लिए जो तीन चित्राकार आते हैं वे अपनी कला की व्याख्या में भले ही कुछ कहें किंतु समर्थन सत्ता का ही करते हैं। अग्निमित्रा सत्ता का प्रतीक है। वह मालविका को प्राप्त करने की इच्छा करता है। उसकी यह इच्छा भी आंदोलन का एक मुद्दा बनता है। किंतु अग्निमित्रा का यह संवाद “विदूषक मेरे अविभाज्य अंग हैं।” इस संवाद की व्यंजना गहरी है। मालविका अग्निमित्रा के समक्ष नृत्य करे इसके लिए वह दोनों को अधिकारी की तरह फटकारता है। राजकोष से वेतन के भुगतान की भी धमकी देता है। हरगण और गणदत्त अपमानित होकर विदूषक को ही आंदोलन का नायक बनाना चाहते हैं। वे इस कार्य के लिए पारिव्राजिका का सहारा लेते हैं जो अग्निमित्रा और विदूषक की प्रिया है। क्या यह सत्ता आसक्ति का प्रतीक है या व्यवस्था के प्रति साझेदारी की लालसा या कि मानवीय कमजोरी। दर्शक अपने ढंग से निष्कर्ष निकाल सकता है। सत्ता जनता को भ्रमित ही नहीं उससे छल भी करती है। अग्निमित्रा जब कंचुकी से कहता है “दर्शन महात्म्य के लिए तुम्हीं अपने पैर गवाक्ष से लटका दो इससे प्रजा को पुण्यलाभ होगा। तुम्हारी स्वामिभक्ति सिद्ध होगी।” यह प्रतीक सामंती है पर आज भी जनता से छल करने का बोध उभारता है। भीड़ कंचुकी के चरण देखती है पर जयजयकार अग्निमित्रा की करती है। किंतु इस जय ध्वनि के बीच चीख पुकार का स्वर जनता के वास्तविक दुःख के प्रतीक के रूप में उभरता है। यह स्वर जयकार की ध्वनि को दबा देता है जो अग्निमित्रा बर्दाश्त नहीं कर सकता।

वह आक्रोश में आ जाता है। किंतु विदूषक उस आक्रोश को शांत कर देता है यह कहकर कि “धीरत्व के नाश के नायकत्व का लोप हो जाता है।” और वह तुरंत घोषणा करता है कि कल रात्रि मैंने आंदोलन का नेतृत्व ग्रहण कर लिया है। जन आंदोलन में संलग्न लोग राजान्न की मर्यादाएं जानते हैं। वे आपके कुल से ही प्रतिनिधि चुन सकते हैं। तब फिर संघर्ष कहाँ है? पक्ष भी हमी हैं विपक्ष भी। यह आंदोलन तो प्रजा का ध्यान मालविका प्रकरण से हटाकर आपका शौर्य स्थापित करने के लिए है। आधुनिक प्रसंग में इसका स्पष्ट संकेत है कि जनता के वास्तविक आंदोलन के मुद्दे किस तरह बदल दिए जाते हैं। अर्थहीन कर दिए जाते हैं।

मंच पर मालविका के चित्रा के अनावरण को लेकर अद्भुत दृश्यबिंब प्रस्तुत किया गया है। झूठ सच को आमने-सामने खड़ा किया गया है। विरोधाभास को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। चित्राकार कपड़े से ढँके फ्रेम में दर्शकों के समक्ष मालविका का चित्रा प्रस्तुत करता है। यह समझाता है कि चित्रा की परख है भावमयता, प्रेम की दृढ़ता और अनुराग। किंतु जब उसका अनावरण किया जाता है तो वहाँ न तो कैनवास होता है न चित्रा। वहाँ केवल महाराज उपस्थित होते हैं। मात्रा इस दृश्यबंध से लेखक ने अकथनीय ब्यंग्य और क्षोभ की अभिव्यक्ति की है। यह दृश्यबिंब सार रूप में सब कुछ कह देता है जो नाटक में है। यह दृश्य नाटक का उत्तम एवं कलात्मक चरमोत्कर्ष है। कालिदास के भरत वाक्य की सार्थकता को सामयिक बनाया गया है।

जब तक करते रहें राज्य अग्निमित्रा/ तब तक न हो कोई उपद्रव/ दशों दिशाएं रहें शांत प्रजा समेत।”

नाटक अतीत और वर्तमान की तहों में लिपटा है। इसलिए कहीं-कहीं उलझाव भी पैदा करता है फिर भी बड़े कैनवास का नाटक है। युगबोध को अनुभूति के स्तर पर व्यक्त करता है।

पक्ष-विपक्ष/ अनुपम आनंद/ संभावना प्रकाशन, रेवती कुंज, हापुड़ (उ.प्र.), मूल्य : 100.00

3/586, एल.आई.जी., आवास विकास कालोनी, झूंसी, इलाहाबाद (उ.प्र.) मो. 09451841311

एक गैर—दलित का दलित—विमर्श

श्रीभगवान सिंह

य

ह कहने में अत्युक्ति नहीं कि विगत दो दशकों से वर्ग—चेतना या वर्ग—संघर्ष की चर्चा को पीछे धकेलते हुए साहित्य—सदन में दलित—विमर्श प्रमुखता प्राप्त कर चुका है। इस विमर्श के पैरोकारों का एक बहुत बड़ा वर्ग यह मानता है कि केवल दलित व्यक्ति ही दलित पीड़ा का भुक्तभोगी होने के नाते दलितों के संबंध में प्रामाणिक रूप से लिख सकते हैं। इस तर्क के अनुसार ऐसे लेखन को दलित लेखन कहेंगे जो दलितों का, दलितों के द्वारा, दलितों के लिए हो। ऐसी कठोर घेराबंदी के बावजूद कुछेक गैर—दलित लेखक दलित—विमर्श में हस्तक्षेप करते रहे हैं। इन गैर—दलित लेखकों में तो कुछ ऐसे पांडे, तिवारी, चौबे टाइप के लेखक दलित सहृदयता, सहधर्मता से इतने सराबोर हैं कि वे दलित लेखकों से भी चार कदम आगे बढ़कर अपने को दलित पक्षधरता का ध्वजारोही सिद्ध करते हुए दिखाई देते हैं। इसके विपरीत कुछेक ऐसे गैर—दलित लेखक भी हैं जो दलित और गैर—दलित के बीच एक संतुलन, एक सेतु स्थापित करने की कोशिश में लगे हुए हैं। हिंदी के वरिष्ठ आलोचक डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल की नई पुस्तक 'दलित साहित्य : बुनियादी सरोकार' इसी प्रकार के प्रयास का प्रमाण है।

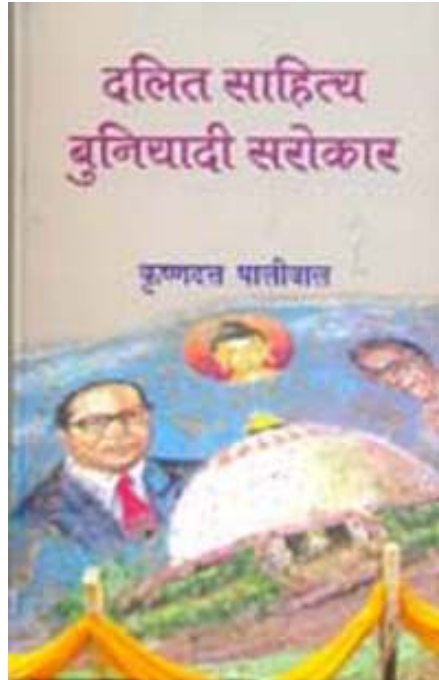
वैसे दलित—विमर्श पर यह डॉ. पालीवाल की पहली पुस्तक नहीं है। वे कई वर्षों से दलित समाज की समस्याओं, विमर्शों में दिलचस्पी लेते रहे हैं। प्रमाण स्वरूप गौरतलब है इस पुस्तक के प्राक्कथन का यह अंश—'मेरी पुस्तक 'डॉ. अंबेडकर और समाज व्यवस्था' के स्वागत ने दूसरी पुस्तक 'डॉ. अंबेडकर, समाज—व्यवस्था और दलित

साहित्य' के लेखन की प्रेरणा दी। उत्तर—आधुनिकतावाद पर लगभग बीस वर्षों से सक्रिय होने के कारण मैंने तीसरी पुस्तक लिखी जिसका शीर्षक है 'उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य'। दलित साहित्य के बुनियादी प्रश्न चिंताओं के केंद्र में आकर घेरते रहे। इसलिए इन चिंताओं को बदलते हुए परिप्रेक्ष्य में सामने लाना पड़ा। नई परिस्थितियों और संदर्भों में कुछ ऐसे अप्रत्याशित पक्ष खुलते गए हैं जिन पर 'दलित साहित्य : बुनियादी सरोकार' में पुनःखचार करना जरूरी लगा है।'

इस पुस्तक में कुल इक्कीस निबंध हैं जो समय—समय पर लिखे गए हैं। इन निबंधों से होकर गुजरने पर यह देखने को मिलता है कि एक तरफ डॉ. पालीवाल सवर्णवाद की बेबाक ढंग से धज्जियां उड़ाते हैं, तो दूसरी

तरफ वे दलितवाद की सीमाओं को रेखांकित करते हुए उसके सामने व्यापक साहित्यिक—सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। लेकिन दलित पक्षधरता के अति उत्साह में वे सवर्णवाद को कुछ ज्यादा ही फैलाव दे देते हैं। मसलन, पुस्तक की पृष्ठ संख्या 10 पर उनका यह कथन "गांधी—लोहिया का सवर्णवादी चिंतन अंबेडकर के गले कभी नहीं उतरा।" गांधी—लोहिया के चिंतन को भले ही अंबेडकर 'सवर्णवादी' मानते रहे हों, लेकिन लेखक द्वारा उनके चिंतन के लिए 'सवर्णवादी' विशेषण का प्रयोग तथ्यसंगत नहीं लगता, क्योंकि सभी को मालूम है कि गांधी और लोहिया भी अपने—अपने ढंग से सवर्णवाद की संकीर्णताओं के खिलाफ जीवनपर्यंत लड़ते रहे। कदाचित इस तथ्य को महसूस करते हुए डॉ. पालीवाल अपने इस वक्तव्य को दुरुस्त कर देते हैं—"गांधी के अस्पृश्यता—विरोधी आंदोलन के भाष्य का सबसे ज्यादा विरोध सवर्ण—वर्चस्ववादी सनातनी हिंदुओं ने किया। ये सवर्णवादी सनातनी गांधी को यह कहकर डराते—धमकाते थे कि अगर अस्पृश्यों—दलितों का साथ दिया तो वे उनका साथ नहीं देंगे। ..लोहिया जी पिछड़ों के लिए अधिकार की लड़ाई लड़ते रहे ताकि उन्हें समानता प्राप्त हो सके।" (पृ. 36)

डॉ. पालीवाल अंबेडकर की दलित—पक्षधरता को गांधी के मुकाबले ज्यादा धारदार रूप में पेश करते हुए तथ्यसंगत विवेचन करते हैं, लेकिन वे लगे हाथ अंबेडकर के दलित—चिंतन की सीमा को रेखांकित करने का भी साहस दिखाते हैं—"क्या यह सच नहीं है कि अंबेडकर केवल दलितों के अधिकार की लड़ाई तो लड़ते रहे किंतु पिछड़ों—आदिवासियों को अपने साथ नहीं जोड़ सके। जबकि गांधी



जी एवं लोहिया का ध्यान अगड़ों-पिछड़ों पर व्यापक स्तर पर रहा।" (पृ. 37) इस क्रम में वे गांधी के प्रति अंबेडकर के निषेधात्मक विचारों की असंगति को भी अनावृत करने से नहीं चूकते। डॉ. अंबेडकर का यह कथन दुर्भाग्यपूर्ण है कि गांधी-युग अंधकार-युग है। यह संपूर्ण भारतीय जनता के नवजागरण का निषेध है और स्वाधीनता-आंदोलन में अनास्था का भाव भी।" (पृ. 55)

सर्वविदित है कि डॉ. अंबेडकर के विचारों को अपना प्रेरणा-स्रोत बनाने वाला दलित लेखन न गांधी की सदाशयता में विश्वास करता है, न भारत की सांस्कृतिक समन्वयात्मकता में आस्था रखता है। इन दोनों से अलग होकर वह अपने साहित्य का प्रतिमान एवं सौंदर्यशास्त्रा गढ़ने में सक्रिय है। लेकिन केवल अंबेडकर के विचारों से संबद्धता और समस्त पूर्ववर्ती सांस्कृतिक परंपराओं से विच्छिन्नता उसकी संकीर्णता का कारण बन रही है जिसे डॉ. पालीवाल जैसे समीक्षक अच्छी तरह देखते हैं।

प्राचीन भारतीय साहित्य के संबंध में एक बहुत बड़ी भ्रांत धारणा यह है कि वह सिर्फ ब्राह्मणों के द्वारा रचित है और इसी कारण आज के दलित लेखक उससे वितृष्णा करते हैं। इस भ्रांत धारणा का निवारण करते हुए डॉ. पालीवाल भारतीय साहित्य के सृजन में गैर-ब्राह्मण-जातियों के योगदान का स्मरण कराकर महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। "सूत-मागध-बंदी इत्यादि पुराण-साहित्य को निखमत करने वाली और जनता में इस साहित्य को फैलाने वाली जातियां हैं। पुराण, जातीय स्मृति के इतिहास हैं जिन्हें इस सूत-परंपरा ने ही बचाया है। पनपाया है और हिंदू मन में बैठा दिया है। इन ब्राह्मणोत्तर जातियों ने ब्राह्मणों का साथ दिया। महाभारत ने सौति को नवीन छवि दी। ज्ञानी रोमहर्षण 'पौराणिकोत्तम' कहलाए। वाल्मीकि, व्यास, सौति-नारद, रोमहर्षण, ऐतरा-कवष के बिना हिंदू 'चिंतन-परंपरा' का प्रवाह अपनी तरंगायित सौंदर्य-छवि खो देता है। इस परंपरा को खोकर 'दलित साहित्य' कहां टिकना चाहता है?" (पृ. 60)

आजकल कुछेक गैर-दलित वामपंथी लेखक दलितों का दिल जीतने के लिए प्रेमचंद पर अंबेडकर का प्रभाव दिखाने की बौद्धिक



कवायद करने में लगे हुए हैं, तो दूसरी तरफ डॉ. धर्मवीर जैसे दलित लेखक लगातार उन पर दलित आक्रोश के गोले दागने में लगे हुए हैं, 'कफन' जैसी कहानी और 'रंगभूमि' जैसे उपन्यास को दलित विरोधी सिद्ध किया जा रहा है। डॉ. पालीवाल इन दोनों तरह के लेखकों से मुठभेड़ करते हुए वस्तुनिष्ठ सत्य को सामने लाते हैं। वे सप्रमाण सिद्ध करते हैं कि प्रेमचंद अंबेडकर के बजाय गांधी के साथ जिन सवालों पर थे उनमें अस्पृश्यता-निवारण का मुद्दा भी शामिल था। विदित है कि अगस्त 1932 में जब ब्रिटिश सरकार ने अछूतों के लिए पृथक निर्वाचन मंडल की घोषणा की तो उसके विरोध में गांधी जी ने 20 सितंबर से आमरण अनशन की घोषणा कर दी। इस अवसर पर प्रेमचंद ने साप्ताहिक जागरण में गांधी के पक्ष में लगातार जो संपादकीय लिखे, उन सबका हवाला देते हुए डॉ. पालीवाल ने गांधी के साथ प्रेमचंद की पक्षधरता को दिन के उजाले की तरह साफ कर दिया है। इसके अतिरिक्त, प्रेमचंद को मार्क्सवादी सिद्ध करने की प्रगतिवादी मुहिम की हवा निकालते हुए पालीवाल यह तथ्य रेखांकित करते हैं। "प्रेमचंद जीवन भर गांधी से गहरे प्रभावित रहे और स्वाधीनता आंदोलन की चेतना का स्थायी भाव उनमें सक्रिय रहा। वे 'स्वराज्य' की आकांक्षा से भरे थे और सभी के लिए स्वराज्य चाहते थे।" (पृ. 189)

फिर प्रेमचंद पर डॉ. धर्मवीर द्वारा 'प्रेमचंद : सामंत का मुंशी' जैसी पुस्तक लिखकर उनकी छीछालेदर करने वाली कोशिशों का डॉ. पालीवाल बहुत सधे तर्कों से प्रतिवाद करते हैं। "अंबेडकर की कसौटी पर प्रेमचंद को फेल या पास करना 'रचना' की आलोचना नहीं है। विचारों की लड़बाजी है। रचना विचारों से नहीं शब्द-संवेदना से रची जाती है। चाहे 'कफन' हो या 'मलबे का मालिक' जैसी कहानी। रचना का प्रेमचंद की रखैल से क्या रिश्ता? रिश्ता खोजना प्रेमचंद की मूछों में शिवाजी को खोजने जैसी व्यर्थ कसरत होगी।

प्रेमचंद को नैतिकता की हथकड़ी में बांधकर पीटना उस महान कथाकार के प्रति घोर अन्याय और कला के पवित्र मंदिर में गड़बड़ी फैलाने का षड्यंत्रा नहीं तो क्या है। रचनाकार का न कोई धर्म होता है, न मजहब, न जाति। वह तो मात्रा 'माध्यम' होता है भाव-विचार को व्यक्त करने का।" (पृ. 207)

पालीवाल के इस दलित-विमर्श की एक अन्य खास विशेषता यह है कि वे कई प्रचलित शब्दों का मौलिक भाष्य भी करते चलते हैं जो शुद्ध साहित्य-संबद्ध हिंदी पाठकों के लिए बहुत उपयोगी है।

इस प्रकार कृष्णदत्त पालीवाल दलित साहित्य के बुनियादी सरोकारों का विवेचन करने के क्रम में समाज, राजनीति, संस्कृति-साहित्य आदि से जुड़े जीवंत प्रश्नों को समेटते हुए अपने दलित विमर्श को बहुआयामी बना देते हैं। उनका दलित विमर्श सिर्फ अछूतपन भोगने वाले दलित की चर्चा तक सीमित नहीं रहता। इसे देखते हुए मानना पड़ता है कि जहां हिंदी के मार्क्सवादी, वामपंथी नाम से विख्यात बड़े-बड़े आलोचक दलित विमर्श के नाम पर चल रही एकांगिता, संकीर्णता के विरुद्ध बोलने-लिखने से डरते हैं या फिर आंख मूंदकर उसकी तारीफ में कसीदे काढ़ते हुए मार्क्सवाद के साथ उसकी पटरी बैठाने का शीर्षासन करते हैं, वहां डॉ. पालीवाल बहुत निर्भीकता तथा वस्तुनिष्ठ एवं ऐतिहासिक तथ्यों के आलोक में दलित लेखन परंपरा के सकारात्मक पक्ष को रखते हुए इस दलित-विमर्श की संकीर्णताओं, विखंडनात्मक प्रवृत्तियों तथा पूर्वग्रहों से पाठकों को रू-ब-रू कराते हैं। दलित चिंतन एवं लेखन के विविध आयामों को समझने, गांधी, अंबेडकर, लोहिया और प्रेमचंद को लेकर फैलाई जा रही भ्रांतियों को दूर करने तथा इन सबके विचारों में निहित पारस्परिक पूरकता को समझने की दृष्टि से यह पुस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है, इसमें दो मत नहीं।

दलित साहित्य : बुनियादी सरोकार / कृष्णदत्त पालीवाल / वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : 395.00

205, श्याम अपार्टमेंट, बड़ी खंजरपुर, भागलपुर-812001 (बिहार), मो. 09801055395

डॉ. रामखेलावन पांडेय : 'काव्य और कल्पना'

विद्याभूषण

सन् साठ में मैं रांची विश्व-विद्यालय में एम.ए. के पहले बैच का विद्यार्थी था। उससे दो साल पहले रांची कॉलेज के हिंदी विभाग से प्रो.केसरी कुमार की विदाई और डॉ. रामखेलावन पांडेय (1913-1991) की अगवानी हो चुकी थी। उन दिनों मैं वहां बी.ए. ऑनर्स की पढ़ाई कर रहा था। उन चार वर्षों के दौरान कई सुयोग्य प्राध्यापकों से साहित्य का पाठ पढ़ने का अवसर मिला। लेकिन हर शिक्षक गुरु नहीं होता, लिहाजा गुरुत्व का प्रथमतः मान मैं पांडेय जी को ही दे पाया। मैं उनका चिरऋणी हूँ कि उनकी तर्कनिष्ठ विवेचना शैली को सहेजने की कोशिश में मैंने विमर्श के हर पड़ाव पर भाषिक-ताखकक कवच की सुरक्षा पाई है। यह अलग बात है कि उनके कृपापात्रों की सूची में मेरा नाम शायद कहीं नहीं रहा।

स्नातकोत्तर कक्षाओं में मेरे प्रतिवादी तेवर से वे खीजते होंगे, यह मेरा मन कहता था। इसलिए मेरे लिए यह अप्रत्याशित स्थिति थी जब उन्होंने मेरे टेस्टीमोनियल में अपनी सम्मति इस तरह लिखी—'हिज रिजल्ट्स आर नाट द टू इंडेक्स ऑफ हिज मेरिट। आइ कैन सेफली रि कॉमेंड हिज नेम फॉर एनी पोस्ट फॉर हिच ही इज फाउंड फिट ऑन द ग्राउंड्स ऑफ हिज एजुकेशनल एटेनमेंट्स।' सच है कि इस प्रमाणपत्र का मैंने कभी कहीं इस्तेमाल किया ही नहीं चूँकि विश्वविद्यालय सेवा के लिए मैंने कोई साक्षात्कार कहीं नहीं दिया। उनके देहावसान के दो साल पहले मेरी तीन पुस्तकें लगभग एक साथ प्रकाशित हुईं तो मैंने उन्हें समखपत पुस्तक प्रतियों में लिखा था—'गुरुवर द्रोण को : जिन्होंने राजपुत्रों के भविष्य का अधिक ध्यान रखा। एकलव्य।' जाहिर है कि अपने गुरु के प्रति मेरे यथेष्ट सम्मान में किसी भक्तिभाव का आंशिक समावेश नहीं रहा।

समय के लंबे अंतराल के बाद अब उनकी यादों को सहेजने की कोशिश करता हूँ तो अनेक धूपछांही प्रसंगों का कोलाज बनने लगता है। एक ही शहर में रहते हुए तीन दशकों का समय जाने कैसे देखते-देखते गुजर गया। विश्वविद्यालय में चार वर्षों तक मैं उनका छात्रा रहा था। फिर लगभग तीन वर्षों तक उनके साथ पी-एच.डी. शोधार्थी के रूप में भी जुड़ा रहा। लेकिन मैं उनका सहकर्मि नहीं हो पाया। इसलिए हमारे सरोकार कारोबारी सांचे में नहीं ढले। मुलाकातें होती रहीं, गोष्ठियों में, कार्यक्रमों में, सार्वजनिक स्थलों पर या कभी-कभार हिंदी विभाग में जब तक वे अध्यक्ष के बतौर कार्यरत रहे। एक समय राधाकृष्ण जी हिंदी साहित्य सम्मेलन के रांची शाखा के अध्यक्ष पद पर वर्षों से कुंडली बांधकर अटल महादेव हो गए और सदस्यता फॉर्म भी हमारी पहुंच से ऊपर हो गया तो लाचार होकर कुछ साहित्यकखमयों ने रांची में छोटानागपुर साहित्यकार संसद का गठन किया था। डॉ. पांडेय उसके अध्यक्ष हुए थे और मैं सचिव चुना गया था। कुछ समय तक यह एजेंडा भी उनसे मेरे मिलने-जुलने का जरिया बना था। तो भी कुल मिलाकर ड्राइंगरूम गॉसिप के अनुभव मेरे खाते में बेशक कम हैं। उनकी निकटता की इस छोटी-सी पूंजी के बावजूद मेरे पास ऐसे प्रसंगों-अवसरों की यादों का भरापूरा गुलदस्ता साबुत है जिसके बूते उनके व्यक्तित्व की विश्वसनीय श्वेत-श्याम छवि उकेरी जा सकती है।

लेकिन यादों की ऐसी जुगाली मुझे अर्थहीन मालूम पड़ती है जिसमें व्यक्ति के निजत्व की रेखाएं नष्ट हो जाती हों। आज यह बताने से कोई फर्क नहीं पड़ने वाला कि हिंदी विभाग का पिउन सीताराम अपने काम में मुस्तैद आदमी था और पांडेय जी की आदतों-जरूरतों का पूरा ध्यान रखता था। हर दिन पतलून-कमीज पहने नाटे कद के पांडेय



डॉ. रामखेलावन पांडेय

जी जब विभाग पहुंचाने वाली सीढ़ियां चढ़ रहे होते तो उनके जूतों की लयबद्ध आवाज उस बरामदे में मानो एलार्म बजा देती थी। उस समय कोई छात्रा-छात्रा या शिक्षक वहां बेमतलब खड़ा नहीं दिखता था। पांडेय जी के लेदर बैग में एक भरापूरा पनबट्टा हमेशा मौजूद रहता था। वह घंटों अपने कक्ष में बैठा करते थे, कई बार कक्षाएं समाप्त होने के बाद पसरे सन्नाटे में भी। शिक्षकों-मुलाकातियों से बतियाते हुए या कभी अकेले किसी काम में मशगूल रहते हुए। मगर हर सूरत में पान की गिलौरियां उनके मुंह में भरी रहतीं। वे पान के रस का स्वाद देर तक लेने के अभ्यस्त थे और उसी मुखमुद्रा में बातचीत करते हुए कई बार पीक को गिरने से बचाने की खातिर उन्हें होंठों का त्रिकोण बनाए रखना पड़ता था। यह याद करना दिलचस्प हो सकता है कि उन दिनों हिंदी विभाग के अध्यक्षीय कक्ष की मुख्य संपर्क भाषा भोजपुरी हुआ करती थी चूँकि वहां के अधिकतर शिक्षक उसमें दक्ष थे। अपने शोधकार्य के सिलसिले में वहां आते-जाते, उनसे यानी अपने गाइड डॉ. पांडेय से मिलते-जुलते मुझे जो विविधवर्णी अनुभव हुए, वे मेरी 'लिपट' शीर्षक कहानी में दर्ज हैं।

आज की तारीख में उनके उस वैदुष्य को स्मरण करने वाले कम लोग दिखते हैं

जिसके लिए अंग्रेजी का स्कॉलर शब्द मुझे सटीक लगता रहा है। साहित्य के उनके समकालीन तो अब रहे नहीं, विश्वविद्यालय में उनके अधिकांश सहकर्मी और शिष्य उनसे मिले दंश को भुला नहीं पाए हैं और निजी शिकवे-गिले की ढेर पर मूल्यांकन अथवा पुनर्मूल्यांकन की नींव नहीं रखी जा सकती। उनकी एक उक्ति मुझसे भुलाए नहीं भूलती—'दूसरे का चलना मत देखो। दूसरे का चलना देखने से अपना चलना रुक जाता है।' जयशंकर प्रसाद की इससे मिलती-जुलती सूक्ति शायद उनके जेहन में घर कर गई थी। अफसोस की बात यह है कि गुरुवर पांडेय ने लोकाचार का यह सूत्रा अपनी दिनचर्या पर लागू नहीं होने दिया। स्मृतिशेष डॉ. सिद्धनाथ कुमार की डी.लिट. के लिए प्रस्तुत थीसिस पर उन्होंने पी-एच.डी. की उपाधि दिलवाई। कई वर्ष बाद सिद्धनाथ जी ने इसकी क्षतिपूखत दूसरे विश्वविद्यालय से की। डॉ. नागेश्वर लाल को उनकी किसी प्रतिकूल टिप्पणी के कारण स्नातकोत्तर विभाग से हटना पड़ा और दोबारा वहां लौटने के लिए पूरे ग्यारह वर्षों तक स्थिति अनुकूल होने का इंतजार भी करना पड़ा। लेकिन आज इन अप्रिय प्रसंगों की चर्चा का कोई अर्थ नहीं। कोई भी व्यक्ति अपनी लघुताओं से उबर कर ही समाज के लिए फलदायक और स्मरणयोग्य बनता है।

उनकी बहुज्ञता और तर्कशील उद्भावना के संदर्भों से समृद्ध उनके शोध व समालोचना के बड़े फलक पर विचार करने से पहले उनकी असहमतियों और अविचलित आत्मविश्वास के रुझानों की थोड़ी चर्चा हो जाए तो उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के नियामक सूत्रों को रेखांकित होने का अवकाश मिल सकता है। उनकी शिक्षा-दीक्षा शिक्षण संस्थाओं की मार्फत नहीं हुई थी। फलतः उनका ज्ञानकोश स्वाध्याय निखरत था। संत साहित्य के प्रति उनमें अनन्य आकर्षण था और कबीर उनके आदरणीय थे। उनके लेखन में असहमति की धार को प्रायः निषेधपरक समझा जाता रहा, लेकिन उनके तर्काधारित निष्कर्षों को सर्वथा दुराग्रही नहीं बताया जा सका। संदर्भ चाहे हिंदी साहित्य के इतिहास के विवेचन-विश्लेषण का हो, चाहे दिनकर, मैथिलीशरण, प्रेमचंद, अज्ञेय, देवेंद्रनाथ की उपलब्धियों के आकलन का। उनकी प्रतिकूल टिप्पणियों को अगर याद किया जाए तो वे अकखड़ कबीरपंथी गेटअप में दिख सकते हैं। अपने समय में वे गजब के टेबुल टॉकर माने

जाते थे, लेकिन उन्हीं उक्तियों के कारण बड़बोलेपन का ठप्पा भी उन पर लगता रहा।

ज्ञान अपरिमेय है और काल सीमातीत। तो भी उनकी वैविध्यपूर्ण बानगियों को समेटने की श्रमसाध्य कोशिशें हमेशा होती रही हैं। ऐसे विद्वानों की समाप्त होती जा रही पीढ़ी के अग्रणी प्रतिनिधियों में एक रहे रामखेलावन पांडेय जी। हिंदी भाषा और साहित्य के जिन क्षेत्रों में उन्होंने अपनी संधानी प्रतिभा का उपयोग किया, उसकी संदर्भसहित चर्चा से यह बात खुलती है कि बहुत थोड़े से लोगों में इतनी बहुमुखी ऊर्जा होती है जो हजारों वर्षों की साहित्य परंपरा के इतिहास और पुरातत्व को अपना अध्ययन क्षेत्र बनाते हों। भारतीय संस्कृति, मध्यकालीन संत साहित्य, कबीर और जायसी, रसशास्त्रा के मूलभूत आधार, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी और आदिवासी भाषाओं का तुलनात्मक कोश जैसे अनेक विषय क्षेत्रों में पैठ बनाकर शोध, आलोचना और समीक्षा की कई मौलिक उद्भावनाओं का श्रेय पांडेय जी का प्राप्य है। यह दुखद है कि उनके बहुविध लेखन का समग्र प्रकाशन नहीं हो सका और परिणामतः उनकी प्रखर मेधा को सम्यक् पहचान नहीं मिल पाई।

यह आकस्मिक संयोग भर नहीं था कि उन्होंने एक ओर क्रांतिदर्शी संत-कवि कबीर की रचनाओं के व्याकरण और पद-पाठों के प्रामाणिक निर्धारण का प्रयत्न किया, वहीं दूसरी ओर रसशास्त्रा के मूल आधार की खोज करते हुए भारतीय ज्योतिषशास्त्रा में उसके उत्स का संधान किया। नई कविता और साधारणीकरण की शास्त्रीय मीमांसा या गोदान और कामायनी में समसायिकता के अंतर्दर्शन जैसे उनके कई आलेखों को आज नहीं भी याद किया जाए तो अधिक फर्क नहीं पड़ेगा, लेकिन, पिछली सदी के पांचवें-छठे-सातवें दशक की सुख्यात साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित उनके कई आलेख गंभीर अध्ययन-अवगाहन के दृष्टांत बने। उस दौर के साहित्य विमर्श के सम्यक् निरूपण के लिए उन आलेखों का स्मरण जरूरी है। यथा— काव्यालोचन के दार्शनिक आधार

(अवंतिका), संत साहित्य की सांख्यिकी (परिषद् पत्रिका), जायसी : तिथिक्रम और गुरु परंपरा (हिंदी अनुशीलन), संत साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि (पाटल), गांधीवाद का भारतीय साहित्य पर प्रभाव (विशाल भारत), कलागत अंतश्चेतना और अनायास स्फूखत (हिमालय), सांस्कृतिक सहयात्रा के आयाम (गगनांचल) और चर्यागीत का तात्विक विश्लेषण। आदि—इत्यादि।

उनके प्रकाशित ग्रंथों की तालिका, प्रकाशन तिथि के क्रमानुसार, इस प्रकार है—गीतिकाव्य (1947), हमारी सांस्कृतिक चेतना (1952), काव्य और कल्पना (1952), कविता कानन में (1953), मध्यकालीन संत साहित्य (1954), कवि और काव्य (1967), भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना (1967) और हिंदी साहित्य का नया इतिहास (1969)। इन आठ चखचत पुस्तकों के अतिरिक्त उनकी अन्य प्रकाशित पुस्तकें पांच हैं—चरण चिद्द, हिंदी व्याकरण, हमारा देश, भाषा बोध, भारतीय संस्कृति। उनके अप्रकाशित आलेखों या सामग्री का सही अंदाज मुझे नहीं है। लेकिन यह जानकारी अवश्य सुख देती है कि डॉ. धीरेंद्र वर्मा द्वारा संपादित हिंदी साहित्य कोश (भाग-2) में सैद्धांतिक समीक्षा में उनके योगदान को उल्लेख्य माना गया।

पहली जनवरी सन् 1913 को आलमगंज (सासाराम) में जन्मे रामखेलावन पांडेय के जीवन का पूर्वार्द्ध अभाव, उपेक्षा और संघर्ष में बीता। स्वतंत्रा छात्रा के रूप में उन्होंने सन् 1940 में पटना विश्वविद्यालय से डिस्टिंक्शन के साथ बी.ए. और वहीं से सन् 1943 में स्वर्णपदक लेकर एम.ए. किया था। सन् 1953 में वे बिहार के पहले डी.लिट. बने। शुरु में वे विभिन्न स्कूलों में पढ़ाते रहे। फिर सन्



1945 से विश्वविद्यालय सेवा में आ गए। टीएनबी कॉलेज, भागलपुर, एलएस कॉलेज, मुजफ्फरपुर और पटना कॉलेज होते हुए वे सितंबर, 1958 में रांची कॉलेज आ गए और रांची विश्वविद्यालय के स्थापना काल (सन् 1960) से दिसंबर, 1974 तक स्नातकोत्तर हिंदी विभाग के अध्यक्ष के रूप में कार्य करते रहे। इसी शहर में उनके अंतिम वर्ष गुजरे जहां 25 जनवरी, 1991 को उनका देहावसान हुआ।

जीवन की सांध्य बेला में, सेवानिवृत्ति के बाद तक, शोध-समीक्षा की जो सामग्री वे एकत्र करते रहे थे, उसका प्रकाशन नहीं हो पाना एक गंभीर क्षति है। हिंदी साहित्य का नया इतिहास पुस्तक के संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण की उनकी तैयारी अंधकारग्रस्त रह गई। उनको निकट से जानने वाले शिक्षक और साहित्यकर्मी जानते-मानते रहे हैं कि पांडेय जी ने इतिहास की सुलभ सामग्री को नए सिरे से जांचा-परखा था और उसमें कई दुर्लभ या अल्पज्ञात विवरणों का यथार्थान समावेश भी किया था। इसी तरह उनके द्वारा तैयार हिंदी और जनजातीय कोश भी सामने नहीं आ सका चूंकि वर्षों पहले बिहार राजभाषा विभाग की लाल फीताशाही के भंवर में पड़ कर उसके प्रकाशन की सरकारी योजना खटाई में पड़ गई। पत्रिकाओं में प्रकाशित आलेखों को भी पुस्तकाकार आ जाना चाहिए था।

यहां से देखें और समग्रता में विचार करें तो वे अपने समय के एक प्रखर बौद्धिक थे। तर्क उनके बाण थे और ज्ञान उनका तरकस। शोध और विश्लेषण उनके रथ चक्र बने तो आत्मविश्वास उनका ध्वज। खंडन-मंडन उनके कृपाण और ढाल रहे। उनके समर कौशल में आक्रमण उनकी रणनीति थी और भाषाई व्यूह रचना उनका कवच बन जाती थी। तर्क-वितर्क से सतर्क उस महारथी का नाम था रामखेलावन पांडेय। अपने कर्मक्षेत्र की रणभूमि में वे प्रायः अकेले दिखलाई पड़े। साहित्य और शिक्षा जगत में उनके मित्रों-अमित्रों, प्रशंसकों-आलोचकों, शिष्यों-अनुगतों की एक भरी-पूरी दुनिया थी, लेकिन उन सबसे लगभग कट चुके पांडेय जी अनेकशः पारिवारिक दुश्चिन्ताओं या सेहत और उम्र की चुनौतियों के बीच, जीवन की सांध्य बेला में अपने आवास 'मीनाक्षी' में अपने अध्ययन कक्ष में नियमित बैठा करते थे।

प्रतिमान प्रकाशन, शिवशक्ति लेन, किशोरगंज, हरमू पथ, रांची-834001 (झारखंड), मो. 099551-61422

सं स् म र ण

जुगनू के सहारे अतीत पर टिप्पणी

केवल गोस्वामी

'अं'

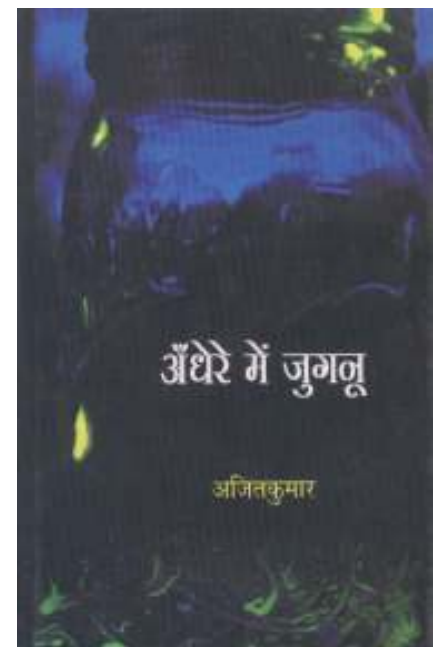
धरे में जुगनू लेखक अजित कुमार के संस्मरणों का तीसरा संकलन है, इसलिए यह उक्ति कि लेखक की रचनात्मक क्षमता जब समाप्त हो जाती है तो वह संस्मरण अथवा आत्मकथा लिखने की ओर प्रवृत्त होता है, संगत नहीं मालूम होती। क्योंकि लेखक का पहला संस्मरणात्मक संकलन 'दूर वन में' 1984 में प्रकाशित हुआ तथा दूसरा संकलन 'निकट मन में' 1994 में प्रकाशित हुआ। इस दौरान उनकी अनेक रचनात्मक, आलोचनात्मक, संकलित-संपादित पुस्तकें प्रकाश में आईं। इनका लेखन पत्रा-पत्रिकाओं में निरंतर प्रकाशित होता रहता है। इसके साथ स्थानीय एवं राष्ट्रीय साहित्यिक गतिविधियों में इनकी भागीदारी सुनिश्चित रहती है।

'अंधेरे में जुगनू' लेखक के अनुसार "अस्सी की उम्र में मेरी याददाश्त का यह हाल है कि चाय पी चुकने के बाद खाली प्याला हाथ में थमा रह जाता है। उसे रखना भूल जाता हूं। फोन बंद करने के बाद सर खुजाता रहता हूं कि अभी किससे बात हुई थी। तब भी अक्सर बचपन तरुणाई की नई तस्वीरें मेरी बूढ़ी आंखों में झलक उठती हैं।" जहां हमारे कई वयोवृद्ध लेखक खिजाब लगाकर स्वयं को और पाठकों को अपनी उम्र के बारे में भ्रम में डालते हैं वहीं अजित कुमार अपने भोलेपन में 77 के होकर स्वयं को 80 का बताते हैं, मानों 80 का आंकड़ा कोई जादुई आंकड़ा हो सृजनात्मकता के लिए।

अंतःखवरोध व्यक्तित्व एवं कृतित्व को ऊर्जा प्रदान करते हैं, कहीं ये अंतःखवरोध स्वाभाविक होते हैं कहीं-कहीं इन्हें उत्पन्न किया जाता है। अजित कुमार के यहां दोनों

तरह के अंतःखवरोध हैं। यह सही है कि वृद्धावस्था में स्मरणशक्ति क्षीण हो जाती है, इसके संकेत किन्हीं कारणों से शायद लेखक को मिलने लगे हों इसीलिए उसने लिखा "इससे पहले कि आदमी अपना नाम, पता, चेहरा, दस्तखत, बैंक वगैरह भूल जाए उसे अपने जुगनुओं की संभाल करनी चाहिए।" जुगनुओं से संभवतः लेखक का अभिप्राय उन यादों से है जो अभी भूली नहीं इसीलिए संस्मरणों का सहारा सबसे उपयुक्त और सार्थक है, इसीलिए भूलने से पहले इन्हें कलम बंद कर लेना चाहता है ताकि अपने पाठकों के साथ उन्हें सांझा किया जा सके।

संस्मरण व्यक्ति क्यों लिखना चाहता है। लेखक कहता है "उन्हें दोहराने की कोशिश एक तरह से तो पोटली में बांधे गए जुगनु की तरह गला घोटने में मजा लेने जैसा हुआ यानी यादें जब तक पोटली में बंधी हैं, अक्षुण्य हैं। किंतु जैसे ही यादों की पोटली



खुली उनके बिखराव के खतरे बढ़ जाएंगे और उनकी गरिमा क्षरित होने लगेगी। कौन-सी यादें किस रूप में पाठक के साथ साँझा की जानी चाहिए, क्योंकि यह सर्वथा निजी संपत्ति है। गोपनीयता की हद तक। उनसे पाठक के जीवनानुभव एवं रुचियां शायद ही मेल जाएं। वहां स्वीकृति एवं अस्वीकृति का असमंजस बना ही रहता है। लेखक कहता है—“पर इस भोलेपन का क्या किया जाए कि आमतौर से खुद जिन्दा रहने या सबको जिंदा रखने का यही एक ढंग समझा जाता है”—यह तभी संभव हो पाता है जब पाठक लेखक



और जिसके बारे में संस्मरण लिखा जा रहा है, दोनों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के बारे में परिचित हो और उनमें रुचि रखता हो, तभी वह कथ्य की पड़ताल करते हुए एक तरह से उक्त संस्मरण में प्रवेश कर सकता है। चूंकि अजित कुमार का एक सुदीर्घ रचनात्मक काल खंड है और जिस साहित्यिक सामाजिक परिवेश को उन्होंने इन रचनाओं में उकेरा है उससे भी पाठक पूर्व परिचित हैं इसलिए पाठकीय प्रक्रिया सुगम हो सकती है। संप्रेषणीयता के लिए भाषा-शैली एक अन्य घटक है जहां रचनाएं-संस्मरण, रिपोर्टाज, सूचनाएं अथवा टिप्पणियों के बीच विभाजित हो जाती हैं जैसा कि इस संकलन की रचनाओं के साथ हुआ है। वहां संस्मरणों के पाठक का कतिपय रस भंग होना स्वाभाविक है। दरअसल संस्मरण की कोई गढ़ी-गढ़ई परिभाषा है भी नहीं पर इधर कुछ संस्मरण लेखकों ने जिस शिद्द के साथ इस विधा को पुनर्जीवित किया है और इस विधा के पाठकों में उछाल आया है, वैसा प्रभाव संकलित रचनाओं में प्रायः नहीं है क्योंकि उनमें से अधिकांश साहित्य या वैयक्तिक टिप्पणियां हैं।

बचपन की झलकियों एवं पारिवारिक समस्याएं तात्कालिक साहित्यिक परिदृश्य के अंतर्विरोध ही प्रायः संकलित संस्मरणों के विषय रहे हैं। अधिकांश संस्मरण प्रातःस्मरणीय शैली में अर्थात् भक्तिभाव से लिखे गए हैं, वह बच्चन को लेकर हों, डॉ. धीरेंद्र वर्मा, डॉ. नगेंद्र, डॉ. जगदीश गुप्त के बारे में हों। इनमें लेखक प्रायः अति विनीत रहा है। यों भी शालीनता उनका पैतृक गुण है जो उनके

व्यवहार और रचनात्मकता में मुखर होकर आता है। बच्चन, जिनका साथ विदेश मंत्रालय में काम करने से लेकर अनेक पुस्तकें संपादित एवं संकलित करने तक रहा है—समग्र साहित्य को पाठकों तक लाने में भी अजित कुमार का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है इसलिए बच्चन, संकलित संस्मरणों में व्यक्तित्व का होना स्वाभाविक है।

डॉ. नगेंद्र के अधीन दिल्ली विश्व-विद्यालय के हिंदी विभाग में उन्होंने छत्तीस वर्षों तक अध्यापन किया इसलिए विभागीय रागद्वेष एवं नीतियों-अनीतियों के संदर्भ अजित कुमार की दृष्टि में आना स्वाभाविक है। लेखक डॉ. नगेंद्र की विद्वता के साथ उनकी पोशाक उनके व्यक्तित्व से भी प्रभावित हुआ है। इसका वर्णन उनकी इन पंक्तियों में है—“दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी अनुसंधान परिषद के आयोजन में सम्मिलित होने के लिए उम्दा सिल्क के कुर्ते और नफीस की धोती की अपनी सुपरिचित धज में पधार रहे हैं—यह विस्तार लेखक की अपनी छवि पर ही टिप्पणी करता है कि वह स्वयं किसी कोण से आकर्षक नहीं लगता रहा होगा या आराध्य के तौर पर यही ‘बानक मो मन बसै’ की तर्ज पर वह उनके व्यक्तित्व पर कसीदा पढ़ रहे होंगे।

भुवनेश्वर तथा विष्णु प्रभाकर को भी लेखक ने प्रायः इसी धरातल पर याद किया है। भुवनेश्वर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को लेकर कुछ नई जानकारियां या मिथक भी मिलते हैं। धर्मवीर भारती एवं शमशेर जी के संस्मरण भी तात्कालिक साहित्यिक परिदृश्य

को निकट से दर्शाने में सफल होते हैं।

अज्ञेय को लेकर जहां वह एक ऐसे अपराधबोध से व्यथित हैं जो उन्होंने किया नहीं। डॉ. स्वरूपसिंह किरोड़ी मल कॉलेज के हिंदी विभाग में अज्ञेय जी की नियुक्ति चाहते थे और विभागाध्यक्ष होने के नाते डॉ. नगेंद्र अपने विभाग में सत्ता के दो केंद्र नहीं बनने देना चाहते थे। इसलिए उन्होंने डॉ. स्वरूपसिंह को यह कहकर कि आपको कतिपय युवा साहित्यकार दे रहा हूं, अज्ञेय की नियुक्ति रोक दी। और अजित कुमार की नियुक्ति हो गई। इस घटना का जिक्र स्वयं डॉ. नगेंद्र ने कालांतर में लेखक से किया।

जैसा कि मैंने कहा लेखक अज्ञेय को लेकर भी भक्तिभाव से लबरेज हैं। इसलिए अज्ञेय के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विभिन्न पहलुओं को तो उन्होंने उजागर किया ही है, उनके संपर्क में आने वाले रचनाकारों की स्याह-सफेद कारगुजारियों को भी अनेक शीर्षकों में अनेक संस्मरणों में उजागर किया है, कहीं-कहीं वे टिप्पणियां दिलचस्प लगती हैं कहीं लेखक का पूर्वाग्रह भी। इनमें रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर और श्रीकांत वर्मा प्रमुख हैं।

अजित कुमार गोष्ठी-प्रेमी तो हैं किंतु वह विवादों से बच-बच के चलते हैं, यह उनकी शालीन प्रकृति से मेल नहीं खाते। लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है—“अखाड़े से उतरकर, चल रही कुश्तियों में खुद भी शामिल हो जाने की रुचि-प्रकृति, योग्यता क्षमता तो मुझमें न थी, लेकिन संयोगवश दर्शकों की पहली कतार में बैठने का मौका जरूर मिला था।” यह स्वीकारोक्ति उनके छात्रा जीवन की है जो उनकी प्रकृति एवं दृष्टिकोण को निखमत करने का आधार बनती है। इसी पृष्ठभूमि के अन्तर्गत इन संस्मरणों को पढ़ा जाए तो इनकी खामियां और खूबियां पाठक तक उजागर हो जाएंगी।

अंधेरे में जुगनु / अजितकुमार / किताबघर, 24, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 / मूल्य : 240.00

जे-363, सरिता विहार, मथुरा रोड, नई दिल्ली-110076 मो. 9871638634

रवीन्द्रनाथ और महावीरप्रसाद द्विवेदी

भारत यायावर

र

वीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म 1861 ई. में हुआ था और महावीर प्रसाद द्विवेदी का 1864 ई. में। यह संयोग है कि दोनों वैशाख महीने में अवतरित हुए थे। आचार्य द्विवेदी टैगोर से तीन वर्ष छोटे थे और उनकी मृत्यु 1938 ई. में टैगोर के देहावसान के तीन वर्ष पूर्व ही हो गई थी। रवीन्द्रनाथ और आचार्य द्विवेदी दोनों युग पुरुष थे, दोनों ने अपने लेखन के द्वारा युगांतर प्रस्तुत किया था। भारत के ये दोनों युग-नायक तपस्वी थे। उन्होंने साहित्य को पूज्य भाव से आराधना की तरह लिया था। इन्होंने अपने समय में उभरने वाली प्रतिभाओं का स्वागत किया था और उनके पनपने तथा विकसित करने के लिए उन्हें अपने स्नेह से सींचा था।

रवीन्द्रनाथ ने अपनी अद्वितीय रचनात्मक प्रतिभा से बांग्ला साहित्य की लगभग हर विधा को विकसित कर एक प्रतिमान प्रस्तुत किया था। उनकी कविताएं भावी पीढ़ी के लिए कितनी मानक थीं, इसका पता इसी से चलता है कि उन्हें 'कवि-गुरु' की उपाधि मिली। कविता में उन्होंने अनेक प्रयोग किए हैं। शैली और शिल्प की इतनी विविधता किसी दूसरे कवि में दिखाई नहीं देती। उन्होंने कविता के अलावा गद्य की अनेक विधाओं में भी विपुल साहित्य की रचना की है। उपन्यास, कहानी, प्रबंध, नाटक, शोध, समालोचना, संपादन, अनुवाद, बाल-साहित्य जिस विधा में भी उन्होंने लेखन किया है, उसका एक कीर्तमान बना दिया।

रवीन्द्रनाथ और आचार्य द्विवेदी के बीच की एक कड़ी है चिंतामणि घोष। चिंतामणि घोष लेखक नहीं थे, किंतु साहित्य के पारखी थे और उत्तर भारत के सबसे बड़े प्रकाशन

संस्थान 'इंडियन प्रेस' के स्वामी थे। उन्होंने हिंदी और बंगभाषा की अनेक कृतियों को प्रकाशित किया था। 1900 ई. में उन्होंने हिंदी की ऐतिहासिक महत्त्व की पत्रिका 'सरस्वती' का प्रकाशन शुरू किया और 1901 ई. में बंगला मासिक 'प्रवासी' का। ये दोनों पत्रिकाएं बाद में दोनों भाषाओं के साहित्य की



रवीन्द्रनाथ ठाकुर

नियामक बनीं। टैगोर की कहानियां और कविताएं 'प्रवासी' में नियमित रूप से छपीं और सबसे पहले 'सरस्वती' में उनकी कहानियों के अनुवाद छपे, जिसके द्वारा हिंदी प्रदेश में टैगोर से लोग परिचित हुए। टैगोर की सर्वाधिक प्रसिद्धि उनके कवि-रूप की है, किंतु वे अपनी कहानियों के द्वारा ही हिंदी में सबसे पहले पहचाने गए। मार्च 1902 ई. की 'सरस्वती' में आचार्य द्विवेदी द्वारा टैगोर के कहानी-संग्रह 'गल्प-गुच्छ' की एक कहानी का रूपांतर

'विद्यावल्लभ की विद्वता' नाम से पहली बार छपा गया। मार्च, 1903 की 'सरस्वती' में 'पंडित और पंडितानी' का अनुवाद प्रकाशित हुआ। आचार्य द्विवेदी ने चार-पांच अन्य कहानियों के अनुवाद भी विभिन्न छद्म नामों से 'सरस्वती' में प्रकाशित किए तथा बंग महिला एवं इंडियन प्रेस के मैनेजर गिरिजाकुमार घोष से टैगोर की अनेक कहानियों के अनुवाद करवाकर छापे। गिरिजा कुमार घोष तब पार्वतीनंदन नाम से हिंदी में लेखन-कार्य करते थे। इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से जब 'षोडशी' नामक कहानी-संग्रह छपा, तब उसकी एक कहानी 'बनावटी नाम' का स्वयं अनुवाद किया एवं शेष कहानियों के अनुवाद विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक से करवाए।

आचार्य द्विवेदी बांग्ला भाषा के जानकार तो थे ही उसकी साहित्यिक विरासत से भी गहराई से परिचित थे। वे रवीन्द्रनाथ की प्रकाशित कृतियां पढ़ते रहते थे। 1912 ई. में जब उन्होंने 'सरस्वती' में टैगोर पर लेख लिखा, उसके पहले वे रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, माइकेल मधुसूदन दत्त, ब्रह्मबांधव उपाध्याय, नवीनचंद्र सेन, शिशिर कुमार घोष और जगदीशचंद्र बसु पर विस्तार से लेख लिखकर हिंदी जगत को इनके विषय में अवगत करा चुके थे। आचार्य द्विवेदी ने ही मैथिलीशरण गुप्त से माइकेल के महाकाव्य 'मेघनादवध' का हिंदी अनुवाद करने को कहा था। बंकिमचंद्र की कथा-कृतियां भारतेंदु के समय में ही हिंदी में अनूदित हो चुकी थीं। स्वयं भारतेंदु ने ही उनके एक उपन्यास का अनुवाद किया था। इस तरह आप देखें कि आचार्य द्विवेदी, जिनके नाम से बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दो दशकों को हिंदी साहित्य के इतिहास में 'द्विवेदी-युग' कहा जाता है, ने

किस तरह बांग्ला में आए नवजागरण एवं साहित्यिक हलचल से हिंदी समाज को अंतरंग रूप से परिचित कराया था। उन्होंने अपने लेखन और 'सरस्वती' के द्वारा बांग्ला की साहित्यिक विरासत को हिंदी प्रदेश में इतने जोरदार तरीके से प्रस्तुत किया था कि उस समय के अधिकांश साहित्यकारों ने बांग्ला भाषा सीखी थी और उससे प्रेरित हुए थे। बांग्ला के साहित्यकारों में तब रवीन्द्रनाथ की ख्याति फैल रही थी और 1913 ई. में जब उन्हें नोबेल पुरस्कार मिला, तब पूरे भारतवर्ष का मस्तक ऊंचा हो गया और धीरे-धीरे वे विश्वकवि के रूप में समादृत हो गए।

मार्च, 1912 ई. की 'सरस्वती' में आचार्य द्विवेदी ने 'कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर' शीर्षक लेख लिखा और उनकी तस्वीर भी प्रकाशित की। यह हिंदी में रवि बाबू पर लिखा पहला व्यक्तिचित्र था। इसके पहले वे अर्नीन्द्रनाथ ठाकुर के कई चित्र प्रकाशित कर चुके थे, पर उन पर उन्होंने पहला लेख 1912 ई. में लिखा। इस लेख की शुरुआत वे इन शब्दों से करते हैं—'कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर बांग्ला के प्रसिद्ध पुरुषों में से हैं। वह बंग-साहित्य के दैदीप्यमान रत्न हैं। बंगाल में ऐसा कोई घर न होगा, जिसमें उनके काव्य और निबंध, उनके उपन्यास और नाटक, उनकी आख्यायिकाएं और गान न पढ़े जाते हों। उन्होंने अपनी लेखनी के बल से शिक्षित बंगालियों के विचारों में बहुत बड़ा परिवर्तन कर डाला है। इसलिए वे इस समय बंगभाषा के अद्वितीय लेखक समझे जाते हैं।'

आगे उन्होंने रवि बाबू का संक्षिप्त जीवन-वृत्त प्रस्तुत करके उनकी प्रतिभा की विशेषताओं को उजागर किया है—'वे नाटकों में अभिनय करते हैं। संगीत-विद्या के ज्ञाता हैं। वे मधुर स्वर में गाते हैं। अपने बनाए हुए गीतों को उन्होंने नए-नए सुरों में बांधा है। वे अच्छे वक्ता हैं। वे स्वदेश-भक्त हैं। मातृभूमि के पक्के आराधक हैं। उनकी देश-भक्ति में संकीर्णता और विदेश तथा विदेशियों के प्रति द्वेष नाम को भी नहीं। उनकी राजनीति चरित्रा-निर्माण पर जोर देती है। उन्होंने सिर्फ भारतभूमि का ही भ्रमण नहीं किया, यूरोप, अमेरिका और जापान भी घूम आए हैं। उनका बोलपुर में स्थापित 'शांतिनिकेतन' आगे चलकर 'विश्वभारती' का रूप ग्रहण करने वाला है।

अंग्रेजी में पूरी दक्षता रखते हुए भी अपनी मातृभाषा के वे प्रबल पक्षधर हैं।' इस लेख के अंत में वे लिखते हैं—

“रवीन्द्र बाबू एक महान-पुरुष हैं। सरस्वती ही की आराधना करके वह महान हुए हैं। गत जनवरी (1912) में बंगाल ने जो सम्मान रवीन्द्र बाबू का किया और हाथी दांत के पत्रा पर खचित अभिनंदन पत्रा, रजत-अर्घ्यपात्रा, सोने का एक कमल और एक माला आदि चीजें जो उन्हें भेंट कीं, वह सम्मान और वह भेंट यथार्थ में रवीन्द्र बाबू को नहीं, किंतु देवी सरस्वती की है। धन्य है वह देश और वह जाति, जो अपने साहित्य-सेवियों का आदर करके भगवती सरस्वती की उपासना करे, और धन्य है वह महापुरुष, जो सरस्वती-मंदिर का पुजारी होने के कारण अपने देश और जाति वालों से सम्मानित हो।”

सरस्वती के पुजारी रवीन्द्रनाथ ने बांग्ला भाषा और साहित्य को जो मान-सम्मान और विश्वस्तरीय प्रतिष्ठा दिलाई, वह भारतवासियों में पराधीनता के बोध से उबरने और राष्ट्रीय स्वाभिमान, भयशून्य चित्त और सिर उठाने का भाव जागृत कर रहा था। जून, 1913 की 'सरस्वती' में आचार्य द्विवेदी ने संपादकीय टिप्पणी लिखी—'कविवर रवीन्द्रनाथ जी का यूरोप और अमेरिका में आदर'। इसमें वे लिखते हैं—'इस गिरी दशा में भी भारत में अनेक विद्वत्-रत्न विद्यमान हैं। परंतु यहां



□महावीर प्रसाद द्विवेदी

उनकी विद्वता का प्रकाश नहीं पड़ता। कारण यह है कि सुशिक्षित लोग ही विद्वानों की विद्वता और योग्यता को जान सकते हैं और लोग नहीं, और सुशिक्षितों की यहां कमी है। रही गवर्नमेंट, सो वह विदेशी है। वह क्यों हमारे विद्वानों का यथेष्ट आदर नहीं करती—वह क्यों राय और बसु जैसे विद्वानों को उनकी योग्यता के अनुरूप उच्च पद नहीं देती—इस विषय में कुछ लिखने का अधिकार 'सरस्वती' को नहीं। इस दशा में हमारे देश के विद्वान जब यूरोप और अमेरिका पहुंचते हैं तब उनकी प्रतिभा वहां चमके बिना नहीं रहती, क्योंकि वहां उसके अवरोधक कारणों का प्रायः अभाव है। वहां सुशिक्षितों और विद्वानों की भी कमी नहीं। इसी से बंगाल के कविश्रेष्ठ रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रतिभा और विद्वता देखकर इंग्लैंड के कवि, विद्वान, दार्शनिक, संपादक, यहां तक कि राजमंत्री भी, मुग्ध हो गए। महीनों उन लोगों ने रवीन्द्रनाथ का गुणगान किया। उन्होंने उन्हें संसार के वर्तमान कवियों का शिरोमूषण ठहराया। अब रवीन्द्र बाबू अमेरिका पहुंचे हैं। वहां भी वे अपने अलौकिक गुणों से विद्वानों को मोहित कर रहे हैं। उस दिन वहां एक धाखमक कांग्रेस हुई। देश-देश के विद्वान उसमें उपस्थित थे। उनकी 'स्पीचें' हुईं। उन्होंने लेख भी पढ़े। रवीन्द्र बाबू भी इसमें आमंत्रित किए गए थे। उन्होंने उसमें जो निबंध पढ़ा उसे सुनकर नई और पुरानी दुनिया के विद्वान स्तंभित हो गए। रवीन्द्र ही का निबंध सबसे अच्छा समझा गया। उन्हीं के विचार सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किए गए। सभा में जर्मनी के जेना नामक विश्वविद्यालय के एक अध्यापक उपस्थित थे। वे तो रवीन्द्र बाबू की विद्वता देखकर इतने हर्षोन्मत्त हो उठे कि उन्होंने बड़े ही आदर से उन्हें जर्मनी चलने का निमंत्रण दिया। यूरोप और अमेरिका जाने के पहले रवीन्द्रनाथ को भारत के शासनकारियों में से किसी ने भी न पहचाना। पर उनके अलौकिक कवित्व आदि की जब इंग्लैंड और अमेरिका में धूम मचने लगी और उस धूम का नाद यहां भी निरंतर सुनाई देने लगा तब कहीं हवा का रुख यहां भी बदला। फल यह हुआ कि हमारे उदारचेता वाइसराय लार्ड हाउड ने देहली के पादरी ऐंड्रूज साहब को शिमला बुलाया। वहां पादरी साहब ने रवीन्द्र बाबू की जीवन-चर्या, कवित्त और विद्वत्त्व आदि पर व्याख्यान दिया

और लाट साहब तथा अनेक उच्च पदस्थ अधिकारी श्रोता हुए। लाट साहब ने व्याख्यान सुनकर कहा—“रवि बाबू एशिया के कवि— शिरोमणि हैं।”

दिसंबर, 1913 की ‘सरस्वती’ में नोबेल पुरस्कार मिलने पर आचार्य द्विवेदी ने फिर संपादकीय टिप्पणी लिखी—“कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर को एक लाख बीस हजार का इनाम”। इसमें उन्होंने लिखा—“लार्ड हाउस ने



उन्हें एशिया का सर्वश्रेष्ठ कवि कहकर उनका आदर किया। पर अब मालूम हुआ कि यूरोप के विद्वानों और कवियों ने उन्हें इस साल एशिया ही का नहीं, किंतु समस्त संसार का सबसे बड़ा कवि और साहित्य—शास्त्री समझा है। रवीन्द्र बाबू की ‘गीतांजलि’ नामक पुस्तक के अनुवाद तथा दो एक और छोटे—मोटे लेखों को ही देखकर उन्होंने कवियों में रवि बाबू की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार कर ली है। यदि कहीं ये लोग रवीन्द्र की दस—पांच बंगला पुस्तकों को पढ़ लेते अथवा उनका अनुवाद ही देख लेते तो वे शायद इस भारतीय कवि को बृहस्पति का अवतार या सरस्वती का पुत्र ही मानने को विवश होते।” आगे उन्होंने अल्फ्रेड नोबेल एवं उनके द्वारा स्थापित नोबेल पुरस्कार एवं उसे प्रदान करने की प्रक्रिया बताने के बाद लिखा है—“यह भारत के लिए, विशेष करके बंगदेश और बंगभाषा के लिए, बड़े गौरव की बात है। भारत और भारतवासियों को कुदृष्टि से देखने वाले रुडियार्ड किपलिंग को छोड़कर किसी और अंग्रेज कवि को भी यह इनाम आज तक नहीं मिला। इटली, फ्रांस और जर्मनी आदि अन्य देशों ही के साहित्यसेवियों को यह मिला है। इधर कलकत्ते के विश्वविद्यालय ने भी रवि बाबू को—डॉक्टर ऑफ लिटरेचर नामक पदवी से पुरस्कृत करने का निश्चय किया है। इन्हीं लोकोत्तर कवि और अद्वितीय साहित्यसेवी रवीन्द्रनाथ के देश—बंधु कनाडा में धंसने नहीं पाते और पशुवत तुच्छ समझे जाकर नटाल और ट्रान्सवाल के जेलों में टूँसे और हंटरो से पीटे जा रहे हैं।”

भारतीय जनता देश में और विदेश में लगातार प्रताड़ित हो रही थी, इसकी गहरी पीड़ा आचार्य द्विवेदी को थी, जो उनके देशप्रेम की गहरी भावना को दर्शाता है और रवीन्द्रनाथ की ख्याति जब विश्वस्तरीय हो उठती है तो वे आत्म—गौरव का अनुभव करते हैं। रवीन्द्रनाथ को जर्मनी से न्यौता मिला। इस पर फिर उन्होंने एक संपादकीय टिप्पणी ‘सरस्वती’ के मई, 1914 अंक में लिखी—“बंगला के विख्यात कवि और लेखक डॉक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर इंग्लैंड और अमेरिका हो आए। उन्हें वहां से लौटे अभी एक वर्ष भी नहीं हुआ। वहां आपका जो आदर—सत्कार हुआ उसका उल्लेख ‘सरस्वती’ में किया जा चुका है। आपको नोबेल प्राइज नामक बहुत बड़ा पुरस्कार भी मिल गया। आपको गवर्नमेंट ने डॉक्टर ऑफ लिटरेचर भी बना दिया। यह सब भारत के लिए—विशेषकर के बंगदेश के लिए—बड़े गौरव की बात है। इसी से शायद बंगला के समाचार—पत्रों और सामयिक पुस्तकों ने रवि बाबू की इंग्लैंड और अमेरिका की यात्रा को ‘दिग्विजय’ माना है। अब सुनते हैं कविवर को जर्मनी से निमंत्रण आया है। वहां यदि आप जाएंगे तो अपनी कविता का भाषांतर—पाठ करेंगे और लेक्चर भी देंगे। ‘दिग्विजय’ तो आप कर चुके। अतएव आपकी यह भावी जर्मनी—यात्रा विजय—बाहुल्य मात्रा में गिनी जाएगी।”

जून, 1924 की ‘सरस्वती’ में उन्होंने ‘नोबेल प्राइज’ शीर्षक एक लेख लिखा। इसमें वे बताते हैं कि “यूरोप के कुछ मतांध मनुष्य समझते हैं कि परमेश्वर ने एशिया के निवासियों

पर आधिपत्य करने ही के लिए उनकी सृष्टि की है। उनकी यह धारणा मतवाले के प्रलाप के सिवा कुछ नहीं। जिस एशिया ने बुद्ध, राम, कृष्ण, ईसा और कन्फ्यूसियस इत्यादि महात्माओं को, चंद्रगुप्त, अशोक, विक्रमादित्य और हर्षवर्द्धन आदि नरेशों को, भीम, अर्जुन, द्रोण, कर्ण आदि वीरों को, और व्यास, वाल्मीकि, कालिदास आदि कवियों को जन्म दिया, उसी एशिया को ईश्वर ने दूसरों की गुलामी करने का ठेका नहीं दे रखा। समय की अनुकूलता और प्रतिकूलता ही सब कराती है। जो लोग आजकल सेवक हैं, वही किसी

समय स्वामी थे और जो स्वामी हैं, वही किसी समय एशिया वालों के सेवक थे।” इसी क्रम में आगे वे लिखते हैं—“कविता—कौशल, ग्रंथ—लेखन—चातुर्य और विज्ञान—विशारदत्व तो जाति, धर्म और देश आदि की सीमा के बंधन की बिलकुल अपेक्षा नहीं करते। इसके प्रमाण सर जगदीश चन्द्र बसु और कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं। यदि वैसे किसी बंधन की अपेक्षा होती तो भारत के सदृश परावलंबी देश में उनका जन्म ही न होता, और यदि होता भी तो उनकी योग्यता का डंका अभिमानी यूरोप के देशों में कभी न बजता।” इस लेख में उन्होंने एक वाक्य यह भी लिखा—“आश्चर्य है, सर जगदीशचन्द्र बसु, अब तक, इस पुरस्कार की प्राप्ति के अधिकारी नहीं समझे गए।”

आचार्य द्विवेदी को बहुत आशा थी कि जगदीशचन्द्र बसु एवं महात्मा गांधी को भी नोबेल प्राइज अवश्य ही मिलेगा, कारण वे रवीन्द्रनाथ की तरह ही बड़े व्यक्तित्व थे और भारतवासियों को पराधीनता के भाव से मुक्त कर स्वदेशाभिमान का मंत्रा फूंक रहे थे। टैगोर, बसु, गांधी और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी भारत भूमि में नवजागरण का शंखनाद करने वाले युगपुरुष थे, कीखतरस्तंभ थे, जिनके प्रकाश में देश ने जातीय गौरव प्राप्त किया था और नई दिशा की ओर कदम बढ़ाया था।

यशवंत नगर, मार्खम कालेज के निकट, हजारीबाग (झारखंड)—825301, मो. 9835312665, ई—मेल : bharatyayawar@yahoo.com

पहाड़ पर अलख...अर्थात् कुमाऊँ के लोककवि गिर्दा

कुबेर दत्त

वि

नीत कुमार लिखते हैं—“उस दिन भी अलसाई दुपहरी थी, जब हम किसी की कोई बात नहीं सुनना चाहते थे। कुखसयों में धंस कर इस नीयत से बैठे थे कि दो-चार मिनट ध्यान से सुनने का नाटक करने के बाद सो जाएंगे। वैसे भी सुबह की बौद्धिक बहसों और फिर एक नज्ब देख लेने भर के लोभ में पड़कर तीन घंटे में देहरादून से मसूरी की जो दौड़ लगाई, तो उसके बाद इतनी हिम्मत भी कहां बची थी। लेकिन हमारे अनचाहे गिर्दा ने हमें डेढ़ घंटे से भी ज्यादा अपने सामने रोके रखा। डेढ़ घंटे ही क्यों, मेरे जैसे कविता के प्रति घोर उदासीन पाठक पर गिर्दा कैसे हावी हो गए और यह मामला लम्बे वक़्त तक चला, आज सोचकर हैरानी होती है। उस दिन की तरह आज भी अलसाई दुपहरी है और हम किसी की बात सुनना नहीं चाहते लेकिन अविनाश, गिर्दा की उन तस्वीरों की ताक़िद करते हैं जो हमने दून रीडिंग्स के दौरान ली थीं। फिर बताते हैं कि गिर्दा नहीं रहे। जिन आंखों पर नींद का कब्ज़ा होने जा रहा था, उनमें आंसू छलक पड़े। गिर्दा ने दोनों बार मेरी नींद उड़ाई है।”

एक और प्रसंग में वे बताते हैं—“देहरादून के दून स्कूल के सेमिनार हॉल में दाखिल हुए, तो मंच पर गीतकार नरेंद्र सिंह नेगी जमे हुए थे। अब तक के बाक़ि सत्रों के मुकाबले यह सत्रा अलग था। गंभीर विमर्श के बजाय कविता और गीत के माध्यम से उत्तराखंड के लोगों का दर्द, वहां की संस्कृति, संघर्ष, जीवन की ख़ूबसूरती और विडंबनाओं को साझा किया जा रहा था। यहीं गिर्दा को पहली बार सुनने का मौक़ा मिला। गिर्दा ने जब गाना शुरू किया तो भीतर से कुछ आत्मग्लानि सा बोध होने लगा। दोपहर में दो तरह का पनीर और महंगे चावल याने रईसजपदों का खाना खा कर जब हम ‘जंगली साग

रांधने’ के बाद गिर्दा के गीत उन्हीं के स्वरों में सुनने लगे तो नज्ब के सामने बाबा नागार्जुन नाच गए। इस गीत के साथ ‘कई दिनों तक चूल्हा रोया’ की पंक्तियां साथ-साथ चलने लगीं।”

गिर्दा उत्तराखंड के जन-संघर्षों की आग थे। वे समर्थ वाग्गेयकार थे। कविताएं, गीत रचते थे, उनको कंपोज करते थे और गाते थे। वे नाटक रचते थे, नाटक का संगीत रचते थे, निर्देशन करते थे, अभिनय करते थे अपनी मंडली को पालते-पोसते थे। मोटा खदर का कुरता, जाकेट और पतलून...यह था उनका लिबास। कंधे पर एक साधारण सा झोला जिसमें पढ़ने के लिए कोई-न-कोई किताब जफ़ूर होती थी। एक छोटी डायरी, बीड़ी का बंडल और माचिस...। वे शराब के भी शौकन थे मगर चूँकि उनका जीवन कामगारों-कुलियों के बीच बीतता था, वे सस्ती से सस्ती शराब पीने में गुरेज नहीं करते थे। एक सम्पन्न ब्राह्मण परिवार में जन्म हुआ था मगर उन्होंने सचमुच ख़्युद को डी-क्लास किया था और कमिसारों की तरह रहते थे। उत्तराखंड के हर



जन-आंदोलन में उनकी भागीदारी थी। गिर्दा के बिना कोई आंदोलन वहां नहीं हुआ। चिपको आंदोलन हो, वन संपदा बचाने का आंदोलन हो, टिहरी बांध आंदोलन हो, जफ़रीली शराबबंदी आंदोलन हो, भूमाफिष्या के खिलाफ आंदोलन हो, उसमें गिर्दा की उपस्थिति अनिवार्य थी। उनके गीत उत्तराखंड के ग्रामीण औरतों और बच्चों की जखान पर चढ़े हुए थे। अनपढ़-गरीब जनता उन्हें अपना बंधु मानती थी और घर-घर में उनका आदर था। वे सबके लिए किसी मसीहा से कम न थे। उनके गीत बूढ़ों, बच्चों, विद्याखथयों, रंगकखमयों, लेखकों-कलाकारों को कंठस्थ थे। युवा विद्याखथयों, रंगकखमयों रचनाकारों के वे ‘नायक’ थे, ‘आदर्श’ थे। वे शास्त्रा और लोक के पारखी थे, दोनों में पारंगत थे, निष्णात थे। अनेक भाषाएं जानते थे। पहाड़ की सारी भाषाएं तो जानते ही थे—हिंदी, संस्कृत, उर्दू, फारसी अंग्रेजिषि भी अच्छी जानते थे।

उत्तराखंड के जनांदोलनों की सांस्कृतिक अगुवाई जब वे करते थे तो हजषरों लोग उन्हें घंटों तक सुनते थे। जहां भी वे और उनके साथी कार्यक्रम करते थे वहां जनता उन्हें पूरी-पूरी रात सुनती थी। उनकी आवाज मीठी थी, कड़क थी, सधी हुई थी, बुलंद थी, उसकी रेंज बड़ी थी, उसमें गहराई थी। ठीक उनके शब्दों की तरह। उनकी चाल में चीते जैसी फुर्ती थी लेकिन अघेड़ावस्था में दिल का दौरा पड़ने के बाद पिछले कुछेक बरस से यह चीते जैसी चाल मंद पड़ गई थी। लेकिन पीड़ित-शोषित जनों के प्रति उनके जुड़ाव और अभियानों में कोई कमी नहीं आई। उनकी अपनी जफ़ूरतें सीमित ही थीं जबकि उनके चाहने वालों की संख्या लाखों में थी और उनकी हर जफ़ूरत पूरी करने के लिए लोग सदैव तत्पर रहते थे, लेकिन गिर्दा कहते थे—“जिन अत्यंत दीन-हीन लोगों के लिए मैं जीता हूं, मेरा जीवन उनसे ऊपर कैसे हो

सकता है?" मल्लीताल के कोरोनाशन होटल के पास बहते नाले के किनारे बसी नेपाली मजूरी की बस्ती में टाट और गूदड़ से भरा एक झुग्गीनुमा कमरा था, जिसमें गिर्दा रहते थे। सीमित सामान था—एक स्टोव, कुछ साधारण से बर्तन, तीन डिब्बे जिनमें सम्भवतः आटा, दाल, चावल रहता था, कुछेक पुस्तकें, कागज़, कप्लम और एक—दो डायरी... यह भर सामान—असबाब।

गिर्दा नहीं रहे। काफ़ी देह—यातना, बीमारी के बाद उनका अवसान हुआ। उनकी छोटी आंत सड़ गई थी, दिल 24 प्रतिशत काम कर रहा था, फेफड़े छलनी थे। ऑपरेशन के बावजूद बच नहीं सके। ऐसा पहली बार हुआ कि एक जनकवि, जन—कलाकार, जनबंधु के निधन के बाद उनकी शवयात्रा में शामिल होने के लिए सुदूर गांवों के हजपरां लोग, जिनमें वृद्ध, बच्चे और महिलाएं भी थीं, उमड़ पड़े। मीलों लंबी कतार थी। भीड़ में कुछ 'खास चेहरे' भी थे जो गिने जा सकते थे, मगर भीड़ में असंख्य तादाद गश्रीब, संघर्षशील, उत्पीड़ित, शोषित जन की थी। उसमें लोक गायक थे, लोकवादक थे, मजूर थे, रंगकर्मी थे, किसान थे, होटल के बेयरे थे, कुली थे, फटेहाल सामाजिक कार्यकर्ता थे, नाव खेने वाले, पनवाड़ी, हलवाड़ी, दुकानदार, गश्रीब—गुरबा। पहली बार देखा गया कि गिर्दा की अर्थी को रित्रायों ने भी कंधा दिया। जन—समुद्र के कंटों से गिर्दा के ही गीत गाए जा रहे थे। अनेक कंटों से बाहर आती अनेक स्वर लहरियां—जैता एक दिन तो आलो, दिन वो दुनि में...आयेगा मेरी प्यारी जैता वो दिन। चाहे हम देख न सकें चाहे तुम न देख सको। फिर भी आएगा तो वो दिन। इसी दुनिया में।

...पानी बिच मीन पियासी। खेतों में उगे उदासी। ये उलटबांसियां नहीं कबीरा। खालिस चाल सियासी... आज हिमालय तुम्हें बुलाता है। जागो—जागो मेरे लाल। जागो कि हम तो हिल भी नहीं सकते। स्वर्ग में हैं। हमारी चोटियां और जड़ें पाताल। अरी मानस जात जप्ता सुन तो लेना। हम पेड़ों की भी विपत का हाल। हमारी हड्डियों से ही बनी कुखसयां हैं इनकी। जिन पर बैठे ये कर रहे ऐसा हाल... देखना—देखना एक दिन हम भी क्या करते हैं इनका हाल...।'

गिर्दा यानी गिरीशचन्द्र तिवारी का जन्म एक मध्यवित्त ब्राह्मण परिवार में 10 सितम्बर 1943 को अल्मोड़ा जिल्ले के गांव ज्योली में हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा गांव और पास के एक गांव में हुई। मगर उनके खोजी

मन ने उन्हें एक जगह न टिकने दिया। वे पहाड़ छोड़कर मैदान में गए और तरह—तरह से मेहनत मजूरी करके पेट पालते रहे। उन्होंने 2 वर्ष किराए का रिक्शा भी चलाया। भारी आखथक तंगी के बावजूद वे लिखते रहे। सीखते रहे। विभिन्न शैलियों के नाट्य रूपों का अध्ययन किया। पीलीभीत, लखीमपुर खीरी में तराई के कषबे—देहातों और लखनऊ शहर में, उसके गली—कूचों में वे भटकते रहे। मगर लक्ष्य से भटके नहीं।

अन्ततः 1967 में उन्हें सौंग एंड ड्रामा डिवीजण में नौकरी मिली और उन्हें उत्तराखंड के सीमाई इलाकों में सरकारी योजनाओं का प्रचार करने की जिम्मेदारी सौंपी गई। वे फिर अपने इलाके में थे और फिर से उनकी साझेदारी पहाड़ी जीवन और संस्कृति से हुई। सौंग एंड ड्रामा डिवीजण में उन्हें संयोग से ऐसे साथी मिले जो उनके जैसे ही थे, जैसे कि ब्रजेंद्रलाल साह, मोहन उप्रेती और लेनिन पंत। यहीं गिर्दा के व्यक्तित्व का त्वरित विकास हुआ और उनकी प्रतिभा में नई चमक आई। इसी दरमियान वे मार्क्सवादी विचारधारा से गहरे तक जुड़े। वीरेन डंगवाल लिखते हैं—**'...कालांतर में यहीं वे क्रांतिकारी वामपंथ से मुतास्सिर हुए, खासकर पहाड़ के दुर्गम गांवों की जटिल जीवन परिस्थितियों से निकट संपर्क, द्वंद्वत्मक राजनीतिक चेतना और मानवीयता पर अटूट विश्वास ने ही इस अवधि में गिरीशचंद्र तिवारी को 'गिर्दा' बनने में मदद की।'**

'गिर्दा' की लोकव्याप्ति और लोक—मान्यता ने उन्हें 'लोकबंधु' का दर्जा दे दिया था। हालांकि कुलीन कला—शिविर चलाने वालों ने उनके प्रति हमेशा ही एक चालाक उदासीनता बरती लेकिन इससे 'गिर्दा' की छवि कहीं से भी धूमिल नहीं हुई। गिर्दा जनमानस में गहरे तक रच बस चुके थे। जन—आंदोलनों से जुड़े नौजवान लेखकों—कलाकारों को गिर्दा का जब साथ मिला तो उनके उत्साह में इज्जफा हुआ और फिर तो गिर्दा के नेतृत्व में एक मजबूत क्रांतिकारी कलाकार—मंडली ही बन गई। अब ये सब लोग गांव—गांव, कषबे—कषबे, नगर—नगर, नुक्कड़ नाटक करते, सड़कों पर उतर कर जन—गीत गाते, शासन की मार खाते, जूझते थे। अनेक नाम थे उस मंडली में—शेखर पाठक, शमशेर सिंह बिष्ट, प्रदीप टम्टा, पी. सी.तिवारी, राजीव लोचन साह, जफूर आलम, निर्मल जोशी, हरीश पंत, गोविंद राजू, महेश जोशी आदि...। यही मंडली थी जो 'चिपको

आंदोलन' में बेहद सक्रिय थी।

उत्तराखंड के जन—जीवन, जल—वन और मानवीय अस्मिताओं से जुड़े हर आंदोलन में गिर्दा एक आवश्यक उपस्थिति बन चुके थे। वे केवल जन—नाट्य रूपों में ही पारंगत नहीं थे बल्कि पारंपरिक और आधुनिक ढांचों में लिखे गए 'अंधेर नगरी' और 'अंधा युग' को भी जन—नाट्य शैलियों में तब्दील कर प्रस्तुत करने में भी उन्होंने महारत हासिल कर लिया था। 'थैंक्यू मिस्टर ग्लाड' की मंच—प्रस्तुति ने तो हिंदी की प्रगतिशील रंगभाषा को एक नया रूप—रंग ही दे दिया था।

पुरानी और अनुभवी नाट्य संस्था 'युगमंच' के माध्यम से गिर्दा ने अनेक असरदार और देर तक स्मृतियों में ठहर जाने वाली प्रस्तुतियां की थीं। गिर्दा के अपने लिखे और निर्देशित किए गए नाटक 'नगाड़े खामोश हैं' और 'धनुष यज्ञ' ने लोकप्रियता के रिकॉर्ड ही तोड़ दिए थे।

उन्होंने कुछ विलंब से ही विवाह किया। उनकी पत्नी को सब 'हीरा भाभी', 'हीरा चाची' कहते थे। वे सुंदर थीं। कड़ियल गिर्दा की सुकोमल मगर, दृढ़ इरादों वाली पत्नी। गिर्दा के उत्तरकाल में, उनकी बीमारी में उन्होंने गिर्दा की भरपूर सेवा की, मृत्युपर्यंत। आजीवन भागदौड़, कुछ ख्युद के प्रति लापरवाही, अनंत यात्राओं और अनथक आंदोलनों ने उनकी ऊर्जा को दरका दिया था। फिर भी वे जूझते रहे। दिल का दौरा पड़ने पर भी कई साल उनकी कर्माग्नि भभकती रही। लेकिन प्रकृति के नियमों के सामने किसका क्या वश? भीषण बीमारी और लाचारी की अवस्था में भी उनके साथियों ने उनके बेहतर उपचार के लिए जी जान से कोशिश की। मृत्यु से पहले गिर्दा की दोनों आंखों में चमक आई और उनमें वेदनायुक्त हंसी तैर गई। मानो कह रहे हैं—

**जैता एक दिन तो आलो
दिन वो दुनि में...
(आयेगा मेरी प्यारी जैता वो दिन
चाहे हम न देख सकें
चाहे तुम न देख सको
फिर भी आयेगा तो प्यारी वो दिन
इसी दुनिया में...)**

उनकी मृत्यु के बाद देश में कई जगह स्मृति सभाएं हुईं। 4 सितंबर 2010, शनिवार की शाम जनसंस्कृति मंच की ओर से राजेन्द्र भवन (दीन दयाल उपाध्याय मार्ग, दिल्ली) में गिर्दा की याद में श्रद्धांजलि सभा का आयोजन

किया गया। कार्यक्रम की शुरुआत एक मिनट के मौन और माल्यार्पण से हुई। इसके बाद गिर्दा का प्रसिद्ध गीत 'जैता एक दिन तो आलो...' गाया गया। हिमालय के इनसाइक्लोपीडिया और पहाड़ को पैदल चलकर समझने वाले शेखर पाठक ने गिर्दा का जीवन-वृत्तांत बताया। भावुक होते हुए उन्होंने जानकारी दी कि उनकी शवयात्रा जैसे कोई ऐतिहासिक यात्रा थी। लोग अपनी रूढ़ी आवाज में ही सही उनके गीत गा रहे थे और परंपरा के विपरीत इस यात्रा में महिलाएं भी मौजूद थीं। भारत छोड़ो आंदोलन के दौर में जन्मे गिर्दा एक फक्कड़ ग्रामीण गवैया थे। अल्मोड़ा शहर में आने के बावजूद उनके भीतर का ग्रामीण नहीं मरा। वो जय जगदीश हरे के संस्कारों को लेकर पैदा तो हुए पर जिया जन की परंपरा का जीवन। गिर्दा को गीतों की प्रेरणा मोहन सिंह रीठागाड़ी, केशव अनुरागी और गोपीदास सरीखे लोकगायकों से मिली। गिर्दा एक बार घर से भागे पर ऐसी जगह जहां पहाड़ का कोई आदमी भागकर नहीं जाता। वे पीलीभीत गए और वहां अपनी जीविका के लिए रिक्शा चलाया। वे कहते थे कि रिक्शा चलाना हल चलाने जैसा ही तो हुआ। गिर्दा को जीवन भर एक रोग लगा रहा। संपत्ति न जोड़ने का रोग। उनकी आवश्यकताएं हमेशा न्यूनतम रहीं। एक कुर्ता पहना, झोला लटकाया और निकल पड़े। सन् 67 के पहले कुछ दिन उन्होंने पी. डब्ल्यू.डी. में नौकरी की मगर बहुत समय के लिए नहीं।

67 से जैसा कि बताया गया था, गिर्दा सौंग एण्ड ड्रामा डिवीजन् में आ गए थे। इसी दौर में उन्होंने 'मोहिल माटी' जैसे नाटकों का लालकिले में मंचन किया। विजेंद्र लाल शाह, पंचानन पाठक, कर्नल गुप्ते और लेनिन पंत जैसे संस्कृतिक कर्षणियों का साथ उन्हें मिला। सन् 77 के दौर तक गिर्दा के सांस्कृतिक जीवन का रूपांतरण हो चुका था। वहीं से वे विकसित रंगकर्मी के रूप में उभरे और अब तक की पूरी सांस्कृतिक प्रक्रिया में वे एक मिथक बन गए। उन्होंने नैनीताल की निर्ममता को इस तरह बदला कि पूरा नैनीताल सड़क पर आने को विवश हो गया। उन्हें केवल हिमालय के अंचल का मानना उन्हें छोटा करके देखना होगा। उन्होंने अपनी बाहर की खिड़कियां हमेशा खुली रखीं। 'युगमंच', 'नैनीताल समाचार', 'उत्तर' जैसी कई शुरुआतें उनके बिना न हुई होतीं। गिर्दा एक छुपे हुए पत्राकार भी थे। भागीरथी में आई बाढ़ के दौर

में उनका वह पत्राकार बाहर आया। बाबा नागार्जुन और उनके बीच एक फक्कड़ दोस्ती हुआ करती थी। वे दोनों एक बीड़ी को चूस-चूस कर पीते। जहां एक ओर चंडीप्रसाद भट्ट, राधाबहन और शमशेर सिंह बिष्ट जैसे राजनीतिक कार्यकर्ता उनके मित्र थे, वहीं दूसरी ओर गीतकार नीरज जैसी शख्शियतों से उनकी दोस्ती थी। झूसिया दाई पर किया गया उनका काम उनकी रचनात्मकता का छोटा-सा नमूना है। और अवस्थित और अनियमित जीवन के बीच भी अपने काम के लिए उनमें गजब का अनुशासन था। उत्तराखंड बनने की प्रक्रिया की दृष्टिहीनता एवं लक्ष्यहीनता, वामपंथी एवं जनपक्षधर ताकतों में उभरा विखंडन और जनांदोलनों के साथियों के बीच पनपी संवादहीनता। किसी काम की शुरुआत के बाद स्वयं पृष्ठभूमि में चले जाना उनकी आदत थी। ऐसे में उन्होंने समाज के बीच हमेशा खाद की तरह काम किया।

नर्मदा नदी बचाओ अभियान की मशहूर सामाजिक कार्यकर्ता राधा भट्ट ने बताया कि नदी बचाओ अभियान की शुरुआत से लगभग 6 वर्ष पहले वे गिर्दा से मिलीं। उनके गीत इतने लोकप्रिय थे कि लक्ष्मी आश्रम में पढ़ने आने वाली लड़कियां भावविभोर होकर उन्हें गातीं। गिर्दा जब आश्रम में आए, तो उन्होंने जाना कि गिर्दा अन्य लोकगायकों की तरह धुन और लय के लिए नहीं बल्कि उनकी भावनाओं के लिए गाते थे। यह भावुक गायन ही था कि लोग इन गीतों से भावनात्मक जुड़ाव महसूस करने लगते। उनका गाया गीत 'जैता एक दिन तो आलो...' **कुमाऊंजी लोगों का 'वी शैल ओवरकम' था।**

'समकालीन तीसरी दुनिया' के संपादक आनंदस्वरूप वर्मा ने बताया कि गिर्दा के साथ वक्त बिताना एक आकर्षण की तरह था। उनके बिना नैनीताल की कल्पना करना भी बेमानी था। गिर्दा के जाने से जो शून्य सांस्कृतिक जगत में पैदा हुआ है, उसे भरना लगभग असंभव है। उनकी लिखी एक कविता से इस बात का अंदाज लगाया जा सकता है कि उनकी संवेदना कितने आयामों के साथ अभिव्यक्त हो रही है...

कैसा हो स्कूल हमारा

कैसा हो स्कूल हमारा

जहां न बस्ता कंधा तोड़े, ऐसा हो स्कूल हमारा

जहां न पटरी माथा फोड़े, ऐसा हो स्कूल हमारा

जहां न अक्षर कान उखाड़े, ऐसा हो स्कूल हमारा

जहां न भाषा जख्म उघाड़े, ऐसा हो स्कूल हमारा...

आनंदस्वरूप वर्मा ने कहा कि गिर्दा की रचनात्मकता को किसी शाखा में नहीं बांटा जा सकता। उन्होंने फैज और साहिर का कुमाऊंजी में अनुवाद किया तो 'नगाड़े खामोश हैं', 'अंधायुग' और 'अंधेर नगरी' जैसे नाटकों का मंचन और निर्देशन भी किया।

वरिष्ठ कवि मंगलेश डबराल ने कहा कि गिर्दा ने उत्तराखंड की लोक संस्कृति को व्यापक परिवर्तन की दिशा में मोड़ दिया। कथाकार पंकज बिष्ट, आलोचक आशुतोष, मानवाधिकार कार्यकर्ता राजेंद्र धस्माना, सामाजिक कार्यकर्ता चंडीप्रसाद भट्ट ने भी गिर्दा से जुड़े संस्मरण सुनाए। आखिर में गिर्दा पर एक फिल्म दिखाई गई, जिसका संकलन-संपादन दिलीप मंडल और अभिषेक श्रीवास्तव के सहयोग से रोहित जोशी और उमेश पंत ने किया था।

इस आयोजन का संयोजन युवा कवि रोहित प्रकाश और चित्राकार रोहित जोशी ने किया था। इस अवसर पर जो फिल्म दिखाई गई थी, उसमें अनेक अवसरों पर गिर्दा को काव्यपाठ करते दिखाया गया।

मुझे यह याद कर गर्व की अनुभूति है कि दो दशक पहले दिल्ली के एल.टी.जी. में एक शाम मोहन उप्रेती की मंडली में मैंने गिर्दा को गाते-नाचते देखा था। यह होली का मौकष था और मैं एक रूपक के सिलसिले में रिकॉर्डिंग कर रहा था। घंटों हम गिर्दा के साथ रहे...। गपियाते...हंसते...मौज करते...। **गिर्दा वास्तव में एक अमिट जन-उत्सव का नाम है जो सदा सर्वदा हर संवेदनशील मन में गूंजता रहा है...गूंजता रहेगा।**

159, आकाशदर्शन अपार्टमेंट्स, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-110091, मो. 09868240906

संपादक के आवासीय पते में परिवर्तन

18-बी, ऊना एन्क्लेव, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-110091

टेलीफोन : 011-42151470

लोग ही चुनेंगे रंग

अनंत विजय

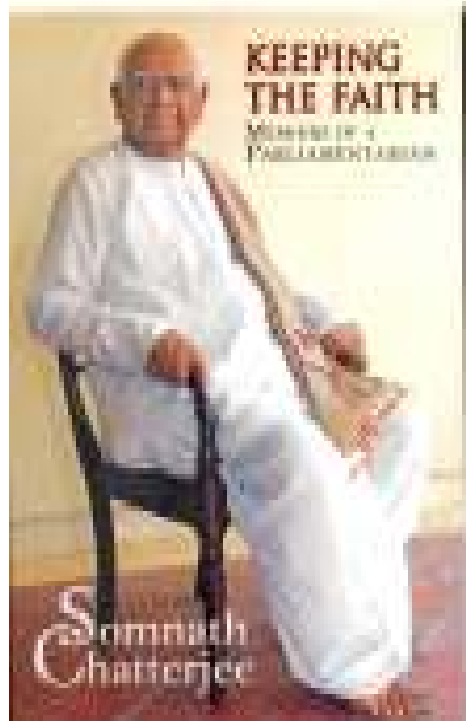
आत्मकथा या संस्मरण एक ऐसी विधा है जिसमें अमूमन उसका लेखक अपने को कसौटी पर नहीं कस पाता है। विश्व साहित्य की अगर हम बात करें तो इस बात के सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं जहाँ लेखक अपने आसपास के परिवेश और परिचितों पर तो निर्ममतापूर्वक कलम चलाता है लेकिन खुद को न केवल बचाकर चलता है बल्कि अपनी एक आदर्श व्यक्ति की तस्वीर पेश करता है और प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपनी तारीफ भी करता है। कई बार तो ऐसा भी होता है कि जहाँ खुद के बारे में असहज या अप्रिय स्थिति बनती है वहाँ लेखक बेहद चालाकी से कन्नी काट लेता है। ज्यादातर लेखक इस दोष के शिकार हो ही जाते हैं। इसी दोष के शिकार सोमनाथ चटर्जी भी हो गए। सक्रिय राजनीति से किनारा करने के बाद सोमनाथ चटर्जी की किताब 'कीपिंग द फेथ : मेमॉयर्स ऑफ ए पार्लियामेंटेरियन' प्रकाशित हुई। इस किताब में सोमनाथ चटर्जी ने कई जगह अपनी तारीफों के पुल बाँधे हैं। अपने बचपन और किशोरावस्था का जिक्र करते हुए सोमनाथ चटर्जी यह बताने का लोभ संवरण नहीं कर पाए कि वो बेहद सम्पन्न घराने से आते थे और एक प्रतिभाशाली छात्रा थे। सोमनाथ इतने पर ही नहीं रुकते हैं जहाँ मौका मिला है अपनी और अपने काम पर खुद की पीठ थपथपाई है। एक जगह तो लंदन में अपनी मकान मालकिन का उदाहरण तक दे दिया, जहाँ वह अन्य भारतीय छात्रों को डाँटती थी और कहती थी कि तुम लोग भी सोमनाथ चटर्जी की तरह बनो। इसी तरह लोकसभा चैनल शुरू करने के लिए भी दादा ने जमकर

अपनी तारीफ की है। लोकसभा चैनल की परिकल्पना और फिर उसके एक सम्मानित चैनल के रूप में स्थापित होने को भी सोमनाथ अपनी एक बड़ी उपलब्धि के तौर पर देखते हैं। यह बात दीगर है कि लोकसभा चैनल के कार्यक्रमों में न तो समसामयिकता दिखाई देती है और न ही कोई उसका दर्शक वर्ग अब तक बन पाया। अगर सरकारी सहायता नहीं मिल रही होती तो यह चैनल कब का बंद हो चुका होता। ये तो चंद उदाहरण हैं जहाँ उन्होंने अपनी उपलब्धियाँ गिनाई हैं।

दरअसल सोमनाथ चटर्जी की यह किताब एक कम्युनिस्ट सांसद का संस्मरण है, कम्युनिस्ट नेता का नहीं। सोमनाथ दा

ने अपनी इस किताब में इस बात को स्वीकार किया है कि वे संयोगवश राजनीति में आए और बयालीस साल की उम्र में संसद में प्रवेश किया और तब से लेकर दो हजार नौ तक लगातार सांसद रहे। वे आजाद भारत के इतिहास में लम्बे समय तक सांसद रहनेवालों में से एक हैं। यही वजह है कि इस किताब में ज्यादातर हिस्सा लोकसभा, उसकी कार्यप्रणाली, उसकी घटनाओं के इर्द-गिर्द घूमती है। सोमनाथ चटर्जी ने इस किताब में यह दावा भी किया है कि जब से मैं लोकसभा का अध्यक्ष बना हूँ तब से बहुत कम बोलता हूँ और जब भी बोलता हूँ तो सिर्फ यह कहता हूँ, जाइए अपनी सीट पर जाइए और कृपया बैठ जाइए। लेकिन उस वक्त लोकसभा की कार्यवाही के दौरान सदन में उपस्थित रहनेवालों की राय बिल्कुल अलग है। सोमनाथ की यह किताब पढ़ते हुए मुझे पूर्व प्रधानमंत्री चंद्रशेखर की बात याद आ गई। एक बार मैं चंद्रशेखर जी से बात कर रहा था तो भारतीय राजनीति, राजनेता और संसदीय मर्यादाओं पर बात होते-होते जब सोमनाथ चटर्जी तक पहुँची तो उन्होंने एकदम से कहा कि यह ऐसा स्पीकर है जो सबसे ज्यादा बोलता है। बातचीत के क्रम में चंद्रशेखर जी ने सोमनाथ चटर्जी से जुड़े कई संस्मरण भी सुनाए थे। चंद्रशेखर जी भी लंबे समय तक लोकसभा के सदस्य रहे और कई अध्यक्षों को सदन चलाते देखने का अनुभव उनके पास था। सोमनाथ चटर्जी के स्पीकर रहते हुए लोकसभा की कार्यवाही को पढ़कर यह जानना दिलचस्प होगा कि अपने कार्यकाल में स्पीकर कितने समय तक बोले थे।

इस किताब में सबसे विस्फोटक



अध्याय वह है जिसमें सोमनाथ चटर्जी ने सीपीएम से अपने निकाले जाने की स्थितियों और पार्टी के आला नेता प्रकाश करात की कार्यशैली पर टिप्पणी की है। 2008 में यूपीए सरकार ने अमेरिका के साथ परमाणु संधि पर हस्ताक्षर करने का फैसला किया। लेकिन सरकार को समर्थन कर रहे वामपंथी दलों को यह नागवार गुजरा और सीपीएम महासचिव प्रकाश करात की अगुवाई में मनमोहन सरकार का विरोध शुरू हो गया। विपक्षी दलों ने लोकसभा में सरकार के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव पेश किया। प्रकाश करात ने पार्टी की तरफ से सोमनाथ चटर्जी को लोकसभा अध्यक्ष के पद से इस्तीफा देकर अविश्वास प्रस्ताव के पक्ष में वोट डालने का फरमान जारी कर दिया। लेकिन संसदीय मर्यादाओं को ध्यान में रखते हुए सोमनाथ चटर्जी ने पार्टी का आदेश मानने से इंकार कर दिया। यह बात करात को नागवार गुजरी, उन्होंने आनन-फानन में सोमनाथ को पार्टी से निकाल दिया। लोकतंत्रा में यह एक परंपरा है कि सदन का अध्यक्ष चुने जाने के बाद वह पार्टी का सदस्य नहीं माना जाता है लिहाजा वह पार्टी के आदेश को मानने के लिए मजबूर नहीं होता है। भारतीय संसदीय इतिहास में सोमनाथ चटर्जी को इस वजह से याद किया जाएगा कि मनमोहन सरकार के खिलाफ आए अविश्वास प्रस्ताव के दौरान उन्होंने अपनी पार्टी का हुक्म मानने से इनकार कर लोकतंत्रा की उच्चतम परंपरा को कायम रखा।

तकरीबन 400 पन्नों की इस किताब में लेखक ने इस प्रकरण पर पार्टी महासचिव प्रकाश करात के दोहरे चरित्रा को बेनकाब किया है। लोकतंत्रा, आजादी और तानाशाही, फासीवाद के खिलाफत की दुहाई देनेवाली पार्टी के महासचिव के तानाशाही मिजाज का सोमनाथ चटर्जी ने पर्दाफाश कर दिया। अगर सोमनाथ चटर्जी की मानें तो उन्हें बगैर किसी कारण बताओ नोटिस के पार्टी से निकाल दिया गया जो संविधानसम्मत नहीं था। चटर्जी का कहना है कि उनके निष्कासन का फैसला पोलित ब्यूरो के पाँच सदस्यों की बैठक में ले लिया गया जबकि सत्राह लोग पार्टी की इस सर्वोच्च इकाई के सदस्य होते हैं और कोई भी फैसला पूरे

पोलित ब्यूरो की बैठक में ही लिया जा सकता है। चटर्जी ने अपनी इस किताब में यह भी दावा किया है कि जब पार्टी ने उन्हें लोकसभा अध्यक्ष का पद छोड़ने का फरमान सुनाया तो उन्होंने पार्टी के दिग्गज नेता ज्योति बसु से इस बारे में राय माँगी थी। सोमनाथ का दावा है कि ज्योति बसु ने उन्हें लोकसभा अध्यक्ष पद पर बने रहने की सलाह दी। सोमनाथ का यह भी दावा है कि ज्योति बसु ने एक हस्तलिखित नोट केंद्रीय नेताओं को भेजा जिसमें यह सलाह दी गई थी कि पार्टी सोमनाथ के इस्तीफे पर जोर न दे, जिसे प्रकाश करात ने नहीं माना और पार्टी के अन्य नेताओं पर उनके निष्कासन के लिए दबाव डाला। सोमनाथ चटर्जी ने प्रकाश करात पर तानाशाहीपूर्ण और अलोकतांत्रिक रवैया अपनाने का आरोप भी लगाया है। जानकारों की मानें तो सीपीएम में यह केरल लॉबी बनाम बंगाल लॉबी की लड़ाई भी थी। सोमनाथ चटर्जी पार्टी से अपने निष्कासन को अपने माता-पिता की मृत्यु के बाद जीवन का सबसे दुखदायी पल मानते हैं।

इस किताब में सोमनाथ चटर्जी ने अपने पिता मशहूर वकील निर्मलचंद्र चटर्जी के बारे में भी लिखा है। उनकी राजनीतिक यात्रा का उल्लेख तो किया है लेकिन इस रहस्य का उद्घाटन नहीं किया कि किसी जमाने में जिस एन.सी. चटर्जी ने हिंदू महासभा के ग्वालियर सेशन की अध्यक्षता की थी वे अचानक सीपीएम में कैसे शामिल हो गए या फिर सीपीएम की क्या मजबूरी रही कि उसने हिंदू महासभा के सक्रिय नेता निर्मल चंद्र चटर्जी को अपनी पार्टी का टिकट दे दिया। यह जानने की जिज्ञासा भी बनी रहती है कि सोमनाथ चटर्जी के पिता निर्मल चंद्र चटर्जी की राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बारे में क्या राय थी, जिसके बारे में सोमनाथ जब लिखते हैं तो घृणा साफतौर पर दिखाई देती है। एक पूरा अध्याय एनडीए शासन काल के दौरान समाज को बाँटने की राजनीति पर भी लिखा गया है। इस अध्याय में जहाँ भी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और भारतीय जनता पार्टी का जिक्र हुआ है वहाँ वे भाषा की मर्यादा भूल गए हैं, जो उनकी प्रतिष्ठा के अनुरूप नहीं है। सोमनाथ चटर्जी को एनडीए

शासनकाल में हुई ज्यादातियाँ नजर आईं लेकिन इंदिरा गांधी की हत्या के बाद राजधानी में सिखों के नरसंहार और उसमें सरकार की भूमिका पर वे लगभग खामोश हैं। इससे संस्मरण की वस्तुनिष्ठता संदिग्ध हो जाती है क्योंकि सोमनाथ चटर्जी के स्तर के राजनेता से यह उम्मीद तो की ही जाती है कि वह समग्रता में राजनैतिक विश्लेषण करेंगे।

चार सौ पन्नों की इस किताब में सोमनाथ चटर्जी ने 1971 में पहली बार अपने चुनाव जीतने का उल्लेख करने के बाद इंदिरा गांधी द्वारा देश में इमरजेंसी लगाने की स्थितियों को अपने अंदाज में विश्लेषित किया है। इमरजेंसी की ज्यादातियाँ और संजय गांधी की भूमिका पर भी दादा ने साहसपूर्वक अपनी कलम चलाई है और कई घटनाओं का जिक्र किया है। खासतौर पर हिसार जेल में अपने राजनैतिक गुरु ज्योति बसु पर हुई ज्यादातियों पर भी सोमनाथ ने प्रकाश डाला है। इंदिरा और संजय के अलावा उस दौर के राजनेताओं मसलन मोरारजी देसाई, जयप्रकाश नारायण, जे.बी. कृपलानी, अटल बिहारी वाजपेयी आदि की महीन राजनीति को पकड़ने की भी कोशिश दिखाई देती है। इमरजेंसी और उसके बाद के साझा सरकार के दौर को भी सोमनाथ ने शिद्दत से परखा है। वी.पी. सिंह, आई. के. गुजराल, देवगौड़ा आदि के प्रधानमंत्रित्व की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख है। राजनीति में रुचि रखनेवालों को सोमनाथ चटर्जी की यह किताब पसंद आ सकती है क्योंकि इसमें 1971 से लेकर अब तक की राजनीति की मुख्य घटनाओं का उल्लेख है जिसमें से कई ज्ञात हैं तो कई अब तक सामने नहीं आई थीं। लेकिन यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं कि यह संस्मरण एक सांसद के बजाय एक ऐसे कम्युनिस्ट नेता का है जो आत्ममुग्ध है और पाठकों को पूरी किताब में इस आत्ममुग्धता से रूबरू होना पड़ेगा।

कीपिंग द फेथ : मेमॉयर ऑफ अ पार्लियामेंटेरियन /
सोमनाथ चटर्जी / हार्पर कॉलिस, ए-53, सेक्टर-57,
नोएडा, यू.पी. / मूल्य : 499.00 रु.

321बी, शिप्रा सनसिटी, इंदिरापुरम, गाजियाबाद
(उ.प्र.) मो. 09871697248